ISSN : 2278-0912

❖ ओ३म् ❖

वर्षम्-१०, अङ्कः-१२०
ज्येष्ठ-आषाढः-२०७५, जूनमासः-२०१८
सृष्टिसम्वत्-१,९६,०८,५३,११९

ज्योतिष्कृणोति सूनरी

आर्ष-ज्योतिः

अन्ताराष्ट्रिय-मूल्याङ्कित-शोधपत्रिका
श्रीमद्दयानन्द-वेदार्ष-महाविद्यालय-न्यासस्य
द्विभाषीयं मुखपत्रम्

❖संरक्षकाः❖
स्वामी प्रणवानन्दः सरस्वती
कै. रुद्रसेन आर्यः
प्रो.पीयूषकान्तदीक्षितवर्याः
श्रीगिरीश-अवस्थीवर्याः

❖परामर्शदातृमण्डलम्❖
प्रो. महावीर-अग्रवालवर्याः
डॉ. रघुवीरवेदालङ्कारवर्याः
आचार्ययज्ञवीरवर्याः
श्रीचन्द्रभूषणशास्त्री
डॉ. धर्मेन्द्रकुमारशास्त्री

❖मुख्यसम्पादकौ❖
डॉ. धनञ्जय आर्यः
डॉ. रवीन्द्रकुमारः

❖कार्यकारी सम्पादकः❖
ब्र. शिवदेवार्यः

❖लेखपर्यवेक्षकाः❖
डॉ. विनयविद्यालङ्कारवर्याः
डॉ. ब्रह्मप्रकाशवर्याः
श्री अजीतवर्याः
श्री मोहितकुमारवर्याः

❖कार्यालयः❖
श्रीमद्दयानन्द-आर्ष-ज्योतिर्मठ-गुरुकुलम्
दूनवाटिका-२, पौंधा,
देहरादूनम् (उत्तराखण्डः)-२४८००७
दूरवाणी-०९४११०६१०४, ८८१०००५०९६
website: www.pranwanand.org
E-mail: arsh.jyoti@yahoo.in

मूल्यम्-रु. ५/-प्रति, वार्षिकम्-रु. ५०/-
मूल्यम्-रु. ३०/-प्रति(शोधाङ्कः)

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक	पृ.सङ्ख्या
सम्पादकीय		
वेदार्थ में निरुक्त की उपयोगिता	डॉ. रघुवीर वेदालंकार	१
वेदार्थ में निरुक्त का महत्त्व	आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा	०५
वैदिक शिक्षाशास्त्र	आचार्य उदयन मीमांसक	०९
वेदार्थ-ज्ञान में शिक्षा, व्याकरण...	प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव	१८
छन्दसां प्रयोगस्य व्यावहारिकविचारः	डॉ. निरञ्जनमिश्रः	२७
ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता	डॉ. सी. एस. आर. लिङ्गा रेड्डी	३१
व्याकरणस्य वेदे स्वरदृष्ट्या महत्त्वम्	डॉ. रवीन्द्रकुमारः	३६
ज्योतिषशास्त्रस्य वैज्ञानिकत्वम्	डॉ. चन्द्रकान्तः	४२
सूत्रसाहित्य में सामाजिक...	डॉ. वीना विश्नोई शर्मा	४६
छन्द वेदाङ्ग की उपादेयता एवं प्रासङ्गिकता	डॉ. रेनू के. शर्मा	५२
निरुक्ताध्ययन के प्रयोजन	डॉ. वेदव्रतः	५५
निरुक्तस्य वेदाङ्गत्वम्	डॉ. कर्मवीरः	६२
व्याकरणशास्त्रस्य वैज्ञानिकमहत्त्वम्	डॉ. देवदत्तसरोदेः	६४
वर्त्तमान में वेदाङ्गों की प्रासंगिकता	डॉ. महेश पण्डेय 'बजरंग'	७०
छन्दःशास्त्राचार्य-परम्परा	डॉ. प्रकाशचन्द्रपन्तः	७६
त्रिमुनिव्याकरणस्य वेदाङ्गत्वम्...	डॉ. दीपककुमारकोठरीः	७९
वेदाङ्गपरिचय	आचार्य योगेन्द्र याज्ञिक	८४
वेदाङ्ग ज्योतिष की उपयोगिता	सुनीता ठक्कर	८८
वेदों का यथार्थ ज्ञान वेदाङ्गों के आश्रय...	मनमोहन कुमार आर्य	९१
वर्त्तमानकाले शिक्षा-वेदाङ्गशास्त्रप्रासङ्गिकता	गोविन्ददासः	९३
वेदाङ्गानां प्रासङ्गिकता	निखिलार्यः	९६
वर्त्तमान समय में वेदाङ्गों की प्रासंगिकता	ज्योत्सना	९८
वर्त्तमानसमये वेदाङ्गानामुपादेयता	रमनदीपः	१००
गृह्यसूत्र का विश्लेषणात्मक महत्त्व एवं अध्ययनस्रोत	वर्षा भाटी	१०७
षड्वेदाङ्ग तथा उनमें निरुक्त एवं व्याकरण...	विकास कुमार	१११
वेदार्थ में निरुक्त का महत्त्व	गुलशन जहाँ	११४

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

लेख में प्रकट किए विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।
किसी भी वाद के लिए न्यायक्षेत्र देहरादून होगा।

प्रकाशनतिथि-३ जून २०१८ :: पत्रालयप्रेषणतिथि-८ जून २०१८

सम्पादक की कलम से....

ओ३म्। प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥ (सामवेद)

ऋषि-मुनियों ने वेदाङ्ग शास्त्र की रचना चारों वेदों को सरलतापूर्वक साधारण मनुष्य को समझाने के लिए की थी। परन्तु वर्तमान में इन वेदाङ्गों की उपादेयता लुप्त प्राय होती जा रही है। जनमानस के समक्ष इन वेदाङ्गशास्त्रों की महत्ता को उपस्थापित करने के लिए ''**आर्ष-ज्योतिः**'' के प्रस्तुत शोधाङ्क का विषय माननीय विद्वान्-मनीषियों की सत्प्रेरणा से ''**वेदाङ्ग**'' सुनिश्चित किया गया।

भारतीय संस्कृति का मूल वेद है। वेदों के अध्ययन में सहायक शास्त्र ही वेदाङ्ग कहे गये हैं। वेद के मूल पाठ अत्यन्त पवित्र हैं, उनके उच्चारण की शुद्धता बनाये रखने, उन्हें अपरिवर्तनीय बनाये रखने व उनके ठीक-ठीक ज्ञान की आवश्यकता हेतु ही वेदाङ्गों का आविर्भाव हुआ। वेदाङ्गों द्वारा मन्त्रों के अर्थ, व्याख्या तथा यज्ञ में उनके विनियोग आदि का बोध होता है। बाद में, ये स्वतन्त्र विषयों के रूप में विकसित हुए। इन ग्रन्थों की रचना बड़ी विलक्षण है। छोटे-छोटे अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। '**विद् ज्ञाने**' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है- ''**वेत्ति जानाति धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपायान् अनेन इति वेदः।**'' अर्थात् जिसके द्वारा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्ट्य को प्राप्त करने वाले उपायों को जाना जाता है, उसे वेद कहते हैं।

वेदाङ्ग, वेद के अर्थ तथा विषय को समझाने के लिए नितांत उपयोगी है। वेदाङ्ग शब्द, वेद तथा अङ्ग इन दो शब्दों से मिलकर बना है। इस प्रकार वेदाङ्ग शब्द का अर्थ है, '**वेदस्य अंगानि**' अर्थात् वेद के अङ्ग। अङ्ग शब्द का अर्थ है-'**अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्तेऽमीभिरिति अङ्गानि वेदानामङ्गानि वेदाङ्गानि**'

अर्थात् जिनके द्वारा किसी को जाना जाये उन्हें अङ्ग कहते हैं और वेदों के जो अङ्ग हैं वे ही वेदाङ्ग कहलाते हैं अर्थात् जिनके द्वारा वेद के ज्ञान को जाना जाये उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं।

वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए जिन साधनों की उपयोगिता थी, उनमें वेदाङ्ग मूर्धन्य हैं। वेद-मन्त्रों के उच्चारण ज्ञान के लिए, शुद्ध शब्दार्थ ज्ञान के लिए, विनियोग के लिए, काल निर्धारण के लिए तथा छन्द ज्ञान के लिए सहायक साहित्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव एक-एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न छः वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ। छः वेदाङ्ग हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष।

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

शब्दों के उच्चारण की शुचिता बनाये रखने हेतु शिक्षा ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ। वैदिक शब्दों के

व्युत्पत्ति लभ्य अर्थों के ज्ञान व उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों के सञ्चालन के ज्ञान हेतु व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई। वेदों में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगति आदि छन्दों की रचना एवं उच्चारण आदि के लिए छन्द:शास्त्र का प्रणयन हुआ। शब्दों की रचना किस प्रकार हुई, उनके मूल अर्थ व पारिभाषिक अर्थ क्या-क्या हैं इसके ज्ञान के लिए निरुक्त शास्त्र बना। कालगणना तथा सृष्टिविज्ञान आदि के ज्ञान हेतु ज्योतिष शास्त्र की रचना हुई। यज्ञीय कर्मकाण्ड में कौन से मन्त्र पढ़े जाएँ, यज्ञ की वेदी की रचना कैसी हो? इन आवश्यकताओं हेतु कल्प ग्रन्थों की रचना हुई। सर्वप्रथम वेदाङ्गों का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के अन्तर्गत चार वेदों के के बाद हुआ है -

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणम्
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। -मुण्डक उपनिषद, १-१-५

पाणिनीय शिक्षा में वेद पुरुष के अङ्गों के रूप में ६ वेदाङ्गों का वर्णन है-छन्द वेद पुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका हैं तथा व्याकरण मुख है-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। -पाणिनीयशिक्षा

प्रत्येक प्राणी मात्र के निमित्त वेद के ज्ञान के लिए वेदाङ्ग का अध्ययन पूर्णरूपेण सहायक है, एतदर्थ महर्षि पतञ्जलि ने कहा कि - '**ब्राह्मणो निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति**'(महाभाष्य, पस्पशाह्निक) अर्थात् बिना कारण के ही वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि -

'**मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदाङ्गानाम्**' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषय)

अर्थात् मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः वेदों के अङ्गों को पढ़ना चाहिए।

वेदों की रक्षार्थ वेदाङ्ग के अध्ययन की आवश्यकता है, क्योंकि वेदमन्त्रों में आने वाले वर्णों के लोप, आगम और वर्णविकार को जानना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि स्वल्प अक्षर भेद से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे ऋग्वेद में आता है - '**त्मना देवेषु**' (ऋग्वेद-७/७/११) यहाँ पर '**मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः**' (अष्टा.-६/४/१४१) सूत्र से वेद विषय में 'आत्मन्' शब्द के आदि आकार वर्ण का लोप हो जाता है किन्तु लोक में '**आत्मना**' शब्द बनता है। इसी प्रकार '**स जनास इन्द्रः**' (ऋक्.-२/११/१) यहाँ पर भी वेद विषय के कारण ही '**आज्जसेरसुक्**' (अष्टा.-७/१/५०) से 'जस्' को 'असुक्' आगम हुआ है जबकि लोक में '**जनाः**' शब्द प्रयुक्त होता है। यदि वेदाङ्ग का ज्ञान नहीं होगा तो यहाँ वेदमन्त्रों के शब्दों को लोग परिवर्तित करके लोकप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग कर देंगे तब वेदमन्त्रों की शुद्धता पर आघात होगा और अनेक भ्रष्ट पाठभेद होने लगेंगे और कई जगह अर्थो का अनर्थ हो जायेगा।

वेदमन्त्रों का विधि में जब प्रयोग होता है, जैसे अग्नि देवता के लिए आहुति देंगे तो वहाँ **'स्वाहा'** शब्द के प्रयोग में **'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधा..'**(अष्टा.-२/३/१६) सूत्र के अनुसार 'अग्नि' शब्द में चतुर्थी विभक्ति का एकवचन बोलना होगा, यथा - **'अग्नये स्वाहा'।** यदि इसी प्रकार सूर्य, इन्द्र, वायु आदि के लिए आहुति देनी होगी तब विना वेदाङ्ग ज्ञान के चतुर्थी विभक्ति का रूप निर्माण सम्भव न हो सकेगा। वर्तमान के पण्डित विना वेदाङ्गज्ञान के अग्निहोत्र में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के अनेक दोषों से आलिप्त पाये जाते हैं। पलाशः, पलाषः, मञ्चकः, मञ्जकः इन शब्दों में शकार, षकार एवं चकार और जकार का अन्तर होने से अर्थ में विशेष परिवर्तन आ जाता है।

महाभाष्य के पस्पशाह्निक में एक स्थान पर आता है असुरों के पराजित होने का कारण यह हुआ कि **'हे अरयोऽरयः'** इस प्रकार पदमात्र का द्वित्व तथा प्रकृतिभाव उच्चारण न करके उन्होंने **'हेलयो हेलयः'** इस प्रकार वाक्य का द्वित्व, पूर्वरूप और 'र्' का 'ल्' उच्चारण किया। अतः वेदाङ्गों के अध्ययन से दृष्टान्तोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

आशा है कि 'आर्ष-ज्योतिः' का यह विशेषाङ्क वेदाङ्गों के महत्त्व को समझने के लिये सभी पाठकों का मार्ग प्रशस्त करेगा।

विद्वच्चरणचञ्चरीक

(शिवदेव आर्य)
गुरुकुल पौन्धा, देहरादून
मो.-८८१०००५०९६
अणुसङ्केत - **shivdevaryagurukul@gmail.com**

न केवला व्याकरणस्य पुस्तिकाऽष्टाध्यायिकेयं नयशास्त्रसंहिता।
इमां पठन् पाठक एति पाटवं सर्वत्र लोकव्यवहारमार्दवम्॥
पाणिनेः पद्धतिर्माङ्गली सम्मता वृद्धिरादैजये! वृद्धिरादौ मता।
तद्दिशा पाठको वृद्धिमासेवते शीघ्रमेवार्षबुद्धिः सुधीर्जायते॥

श्रीमद् दयानन्द वेदार्ष महाविद्यालय - न्यास को दिया गया आपका पवित्र दान धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर मुक्त है। अतः आप अधिक से अधिक सहयोग कर पुण्य के भागी बनें।

वेदार्थ में निरुक्त की उपयोगिता

❑ वेदाचार्य डॉ. रघुवीर वेदालङ्कार ...✍

निरुक्त वेदार्थ की दिशा का निर्धारक ग्रन्थ है। यास्क ने अनेक मन्त्रों एवं मन्त्रांशों की व्याख्या एवं शब्दों का निर्वचन करके इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है। इतना ही नहीं, अपितु वे तो स्पष्ट शब्दों में यह भी कह रहे हैं कि निरुक्त के बिना मन्त्रार्थज्ञान हो ही नहीं सकता। यहाँ पर यास्क का यह भी कहना है कि मन्त्रार्थ संप्रत्यय के बिना शब्दों के स्वर तथा संस्कार (धातु-प्रत्यय) आदि का ज्ञान नहीं हो सकता।[१] यहाँ पर विचारणीय यह है कि स्वर-संस्कार के आधार पर अर्थ का निर्धारण होगा या अर्थ-निर्णय के पश्चात् स्वर-संस्कार के आधार पर ही शब्दार्थ का निर्णय किया जाता है। उदाहरणार्थ 'पिपठिषति' कहने पर पठ् धातु तथा सन् आदि प्रत्ययों के अर्थ का हमें पता है, उनके आधार पर ही इस शब्द का अर्थ 'पढ़ने की इच्छा करता है' जाना जाता है। यास्क कुछ भिन्न बात कह रहे हैं। उनका कहना है कि निरुक्त के आधार पर पहले हम पिपठिषति के अर्थ का निर्धारण करेंगे, तब इसके स्वर संस्कार का ज्ञान होगा। ऐसा क्यों? व्याकरण तथा निरुक्त इन दोनों की दृष्टियों में अन्तर इसलिए है कि व्याकरण धातु-प्रत्यय के आधार पर शब्दों का निर्माण करता है। इससे यह बात सुस्पष्ट है कि जो अर्थ किसी शब्द के जनक धातु तथा प्रत्ययों का होगा, वही अर्थ उनसे बने शब्द का होगा। वैदिक शब्दों में ऐसी बात नहीं है। उनका निर्माण नहीं किया जाता, अपितु वे तो स्वतः सिद्ध शब्द हैं। उनके अर्थ तथा उनमें छिपे धातु-प्रत्ययों के अर्थों को हम कैसे जानें? व्याकरण से यह कार्य नहीं हो सकता। निरुक्तकार इसका मार्ग दिखलाते हैं और वह मार्ग है निर्वचन का। निरुक्त की प्रक्रिया यह है कि सर्वप्रथम निर्वचन के आधार पर शब्दार्थ निर्धारण करना चाहिए। एक शब्द के जैसे या जितने भी निर्वचन होंगे, उनके आधार पर धातु-प्रत्यय स्वयं ही प्रकट हो जायेंगे। धातु-प्रत्ययों के आधार ही स्वर लगेंगे। उदाहरण के लिये - अग्नि तथा हिरण्य आदि किसी भी शब्द को लिया जा सकता है। यहाँ पर यास्क ने दह्, इण्, अञ्जु, नी, हृ, रम् आदि कई धातुओं की कल्पना की है। इसे यास्क की कल्पना मात्र नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने आचार्य शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि को भी उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि निरुक्त की परम्परा यही है। इन विभिन्न निर्वचनों के आधार पर ही अग्नि तथा हिरण्य के अर्थों का निर्धारण होगा। ऐसा ही अन्य वैदिक शब्दों के विषय में भी समझना चाहिए। इस दृष्टि से यास्क का यह कहना उचित ही है कि निरुक्त के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है कि लौकिक शब्दों के विषय में तो हमें स्वर-निर्धारण की स्वतन्त्रता है जब कि वैदिक शब्दों के विषय में ऐसा नहीं है। वैदिक शब्दों के स्वर पहले ही निर्धारित हैं तथा वे स्वर निरर्थक न होकर शब्दार्थ तथा मन्त्रार्थ के निर्धारक भी हैं। इस विषय में सुप्रसिद्ध उदाहरण इन्द्रशत्रु दिया जाता है, जिसको पतञ्जलि ने भी उद्धृत किया है तथा इसके आधार पर स्वरज्ञान के लिए व्याकरण की आवश्यकता बतलायी है। यह कार्य निरुक्त से नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, अपितु प्रतीत तो यह होता है कि निरुक्तकार निर्वचन को ही प्रमुखतया अर्थ निर्धारक तत्त्व स्वीकार कर रहे हैं, स्वर-संस्कार को नहीं। संस्कार (धातु-प्रत्यय) के विषय में तो उन्होंने स्पष्टतः लिख ही दिखा - **'न संस्कारमाद्रियेत'**। स्वर के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा। प्रश्न है कि क्या यास्काचार्य वेदार्थ में स्वर तथा

संस्कार को महत्त्व नहीं दे रहे हैं? ऐसी बात नहीं है। यास्क स्वर-संस्कार की उपेक्षा का परामर्श वहीं पर देते हैं, जहाँ पर कि अर्थ अनन्वित हो। उनका कहना है कि सर्वप्रथम तो स्वर-संस्कार के आधार पर ही निर्वचन करना चाहिए।[२] जहाँ स्वर-संस्कार का अन्वय अर्थ के साथ न हो, वहाँ संस्कार की परवाह न करके भी निर्वचन कर ही देना चाहिए, ऐसा यास्क कहते हैं। उनका कहना है कि निर्वचन अवश्य करे – **न त्वेवं न निर्ब्रूयात्।** यथा – 'अहि' का निर्वचन उन्होंने 'एत्यन्तरिक्षे' कहकर किया है। 'अहि' में इण् धातु दिखलायी नहीं पड़ रही है किन्तु इण् के अर्थ का अन्वय मेघ क्रिया (गमन) के साथ अवश्य है। इसी आधार पर यह निर्वचन कर दिया गया तथा इसी दृष्टि से यास्क ने निरुक्त को मन्त्रार्थप्रत्यायक कहा है।

एक प्रश्न यह भी है कि क्या सर्वत्र निर्वचन के आधार पर ही अर्थ का ज्ञान होगा। बिना निर्वचन नहीं? ऐसी बात नहीं है। ऐसे स्थल भी पर्याप्त हैं जहाँ किसी शब्द का निर्वचन उसके अर्थ निर्धारण में कोई भूमिका नहीं निभा रहा होता। यथा – '**अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः**' मन्त्र को उद्धृत करते हुए यास्क सर्वप्रथम तो '**अक्षिमन्तः कर्णवन्तः**' कहकर शब्दार्थ को स्पष्ट कर देते हैं। इसके पश्चात् अक्षि तथा कर्ण शब्दों के निर्वचन करते हैं। इन निर्वचनों से अक्षि तथा कर्ण का स्वरूप जानने में तो सहायता मिलती है, किन्तु अर्थनिर्धारण में नहीं। प्रश्न है कि ऐसे स्थलों पर निर्वचन की अर्थप्रत्यय के लिए क्या उपयोगिता है? इसी प्रकार अन्य शब्द भी मिलते हैं यथा – 'कपिञ्जल' का निर्वचन '**कपिरिव जीर्णः**' किया गया है। पहली बात तो यह है कि कपि (वानर) जीर्ण नहीं, अपितु हृष्ट-पुष्ट प्राणी है। दूसरे **कपिरिव जीर्णः,** कहने से यह पता नहीं चलता कि कपिञ्जल है कौन? स्पष्ट है कि यहाँ पर यह निर्वचन अर्थनिर्धारण में सहायक नहीं है।

एक अन्य प्रश्न यह भी है कि जहाँ यास्क एक ही शब्द के कई निर्वचन देते हैं वहाँ अर्थनिर्धारण में किस निर्वचन को आधार बनाया जाए। यथा – अग्नि, हिरण्य इत्यादि शब्द। जहाँ-जहाँ भी वेद में इस प्रकार के शब्द प्राप्त हों वहाँ क्या उन सभी दृष्टियों से उनका अर्थ किये जाएँ जो कि विभिन्न निर्वचनों के माध्यम से प्राप्त होती हैं? यदि ऐसा किया गया तो मन्त्रार्थ बहुत जटिल हो जायेगा। ऐसे स्थलों पर यास्क परामर्श देते हैं कि मन्त्रों की व्याख्या प्रकरणानुकूल ही करनी चाहिए – **प्रकरणश एव तु मन्त्रा निर्वक्तव्याः।** इसका अभिप्राय है कि एक शब्द के निर्वचन तो अनेक हो सकते हैं किन्तु उन सबके आधार पर सर्वत्र मन्त्रार्थ नहीं किया जा सकता। वेद के मन्त्र स्फुट बिखरे हुए नहीं हैं, अपितु उनमें एक तारतम्य है। यह तारतम्य पूरे सूक्त में भी रहता है तथा कई सूक्तों में भी। कभी-कभी एक ही सूक्त में प्रकरण बदल जाता है। ऐसी स्थिति में अनेक मन्त्रों में प्राप्त किसी शब्द को सर्वत्र एक ही प्रकार से व्याख्यात नहीं किया जा सकता। जहाँ जैसा प्रकरण हो, वहाँ उसके अनुकूल ही निर्वचन को ग्रहण करके शब्दार्थ करना चाहिए। जहाँ यज्ञ का प्रकरण चल रहा हो वहाँ अग्नि की निरुक्ति '**अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते**' यही की जायेगी न कि '**अग्रणीर्भवति**'। राजा, नेता, पुरोहित आदि के पक्ष में अग्नि का अर्थ करते हुए ही '**अग्रणीर्भवति**' का सामञ्जस्य बैठता है। यास्क ने तो एक मार्ग दिखला दिया कि एक शब्द को कितनी दृष्टियों से व्याख्यात किया जा सकता है। निरुक्त की यही विशेषता है तथा यही उसका अर्थसाधकत्व है।

यद्यपि व्याकरण शब्दों का निर्माण भी करता है तथा उन्हें पृथक् भी करता है – '**व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन**' ऐसा पतञ्जलि स्वयं कह रहे हैं, तथापि निरुक्त तथा व्याकरण में अन्तर यह है कि व्याकरण केवल धातु-प्रत्यय के आधार पर ही शब्दों का पृथक्कीकरण (निर्वचन करेगा), जबकि निरुक्त अर्थ के आधार पर ऐसा करता है तथा निरुक्त ऐसा करने में संस्कार – धातु-प्रत्यय को गौण भी कर देता है, क्योंकि वेदार्थ में निर्वचन की ही प्रधानता है, धातु-प्रत्यय उतने महत्त्वपूर्ण

नहीं है। हाँ, वे अनुपयोगी भी नहीं हैं, अपितु निरुक्त जानने के लिये व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है, ऐसा यास्क कहते हैं। **'नावैयाकरणाय'** कह कर वे स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि अवैयाकरण को निरुक्त का उपदेश नहीं देना चाहिए। हाँ, व्याकरण की सीमा से जो कार्य बहिर्भूत है, उसे निरुक्त पूरा करता है। इसीलिए यास्क निरुक्त को **'व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्'** कह रहे हैं।

वेदार्थ में निरुक्त की अपरिहार्य उपयोगिता उसकी निर्वचन पद्धति है। इसके आधार पर यास्क एक ही शब्द के अनेक अर्थ विभिन्न क्षेत्रों में कर देते हैं। निर्वचनों के आधार पर ही उन शब्दों के अर्थ भी विभिन्न दिशाओं को द्योतित करते हैं। निर्वचन पद्धति के मूल में नैरुक्तों का शब्द विषयक आख्यातज पक्ष है। केवल यास्क ही नहीं, अपितु पूरा नैरुक्त सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है। इसे स्वीकार करने पर शब्दार्थ की दिशा ही बदल जाती है। आख्यातज पक्ष तभी सम्भव है, जबकि वैदिक शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ माना जाए। रूढ पक्ष में यह अनुपयोगी होगा। रूढ पक्ष में या तो शब्दों के निर्वचन होंगे ही नहीं, यदि होंगे भी तो वे उसी रुढार्थ के पोषक होने से किसी नवीन अर्थ की उद्भावना नहीं करा सकेंगे। तब न तो एक ही शब्द को अनेक अर्थों में व्याख्यात किया जा सकता है तथा न ही मन्त्रों के विभिन्न अर्थ किये जा सकते हैं। यहाँ तक कि सभी के द्वारा स्वीकृत आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक के रूप में मन्त्रों की विविध अर्थ प्रक्रिया भी उत्पन्न नहीं हो सकेगी। जब रूढ पक्ष में अग्नि पद का अभिधेय भौतिक अग्नि मान लिया गया तो **अग्ने नय सुपथा राये ऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।**[३]

भौतिक अग्नि के पक्ष में इस मन्त्र की संगति लगानी कठिन हो जायेगी, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि के जिन कार्यों का वर्णन है, उन्हें भौतिक अग्नि सम्पन्न नहीं कर सकता। इस पक्ष में यास्क का 'अग्रणीर्भवति' कहना भी व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि यह भौतिक अग्नि तो किसी का नेता नहीं बनता, किसी को आगे नहीं ले जाता। इसके लिए तो यास्क **'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'** कह रहे हैं। इस प्रकार वैदिक शब्दार्थ के मूल तक पहुँचने के लिए निरुक्त अपरिहार्य है। व्याकरण के द्वारा यह कार्य नहीं किया जा सकता है। यथा–

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।[४]

यहाँ यदि व्याकरण के आधार पर अर्थ किया जाए तो केवल इतना ही पता चलेगा – **केशा अस्य सन्तीति केशी।** जटाजूट कोई व्यक्ति भी ऐसा हो सकता है, किन्तु इससे मन्त्रार्थ तो स्पष्ट नहीं होगा। नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार यहाँ आदित्य ही केशी है। इसे ही स्पष्ट करते हुए यास्क कह रहे हैं। **'केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति'।** इस अर्थ का ज्ञान निरुक्त के बिना व्याकरणादि अन्य साधन से हो ही नहीं सकता। यह आदित्य ही अग्नि तथा विष–उदक को धारण करता है। इससे न केवल मत्रार्थ ही स्पष्ट हो जाता है, अपितु इसकी वैज्ञानिकता पर भी प्रकाश पड़ता है कि सूर्य अपनी रश्मियों के माध्यम से जल का ग्रहण तथा धारण करता है।

यास्क ने यही दिशा अपना कर मन्त्रों की व्याख्या की है, जो कि वेदार्थ में अपरिहार्य है। एक अन्य उदाहरण देखें –

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्[५]

इसकी व्याख्या में निरुक्तकार लिखते हैं – **सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये।** अध्यात्मपक्ष में इन्द्रियों तथा विद्या को ही सप्त ऋषि कहा गया है। मन्त्रोक्त सदम् की व्याख्या यास्क संवत्सर तथा शरीर दोनों पक्षों में करते हैं। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र है –

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।[६]

यास्क इसके पदों की व्याख्या इस रूप में करते हैं –

देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्।
विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्।
मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्,
विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्।
देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम्।
मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणााम्।

यहाँ पर यास्क ने ज्ञान कर्म वाले आत्मा को ही श्येन तथा कर्मवाली इन्द्रियों को ही गृध्र भी कहा है। इन अर्थों की उद्‌भावना निरुक्त के बिना किसी भी प्रक्रिया से नहीं हो सकती। इसलिए वेदार्थ के लिए निरुक्त न केवल उपयोगी ही, अपितु अपरिहार्य है।

वेदार्थ में निरुक्त की अति महत्त्वपूर्ण उपयोगिता यह भी है। यास्क से पहले ऐतिहासिक लोग मन्त्रों की व्याख्या इतिहासपरक करने लगे थे, क्योंकि वेदों में उर्वशी, पुरूरवा, शन्तनु आदि अनेक नाम ऐसे हैं, जो लौकिक व्यक्तियों के भी थे। ऐतिहासिक सम्प्रदाय एक सशक्त सम्प्रदाय था, ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि यास्क को भी '**इत्यैतिहासिकाः**' कहकर उसका उल्लेख करना पड़ा। यास्क तथा उनसे पूर्ववर्ती नैरुक्त इससे सहमत नहीं थे, ऐसा निरुक्त से स्पष्ट है। यथा – '**तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः**'[७] कहकर यास्क दोनों पक्ष दिखलाते रहे हैं तथा अन्त में अपनी व्याख्या आधिदैविक पक्ष में करके इतिहास पक्ष को सर्वथा नकार रहे हैं। यथा –

अपाञ्च ज्योतिषश्च भावकर्मणो वर्षकर्म जायते।
तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

यास्क ने १३ स्थलों पर ऐतिहासिक पक्ष के संकेत दिये हैं। इनमें पांच स्थलों में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर यास्क किसी इतिहास को विस्तार से उपस्थित करते हैं।[८] पांच स्थलों पर 'इत्याख्यानम्' कहकर अतिसंक्षेप में एक पंक्ति में ही आख्यान का संकेत मात्र कर देते हैं।[९] तीन स्थलों पर यास्क ने 'इत्यैतिहासिकाः' कहकर ऐतिहासिकों का पक्ष उपस्थित करके भी स्वयं उन मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या की है।[१०] इस प्रकार यास्क ऐतिहासिक पक्ष को सर्वथा नकार देते हैं। वेदव्याख्या के प्रसङ्ग में यास्क का यह अभूतपूर्व योगदान है।

सन्दर्भ-सूची :-

१. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।। नि.-१/१५
२. तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्।। नि. २/१
३. ऋक्.-१/१८९/१
४. ऋक्.-१०/१३६/१
५. यजु.-३४/५५
६. ऋक्.-९/९६/६
७. नि. २/५
८. नि. २/१०, २/२६, ९/२३, १०/२५ तथा १२/१०
९. नि.-५/२१, ११/१९, ११/२५, ११/३४ तथा १२/४१
१०.नि. २/१६, १२/१ तथा १२/१०

– पूर्व प्रो., रामजस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली,
निवास-२६६ सरस्वती विहार, दिल्ली

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

-निरु. अ. १ खं. १८

जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकार रूप है। जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता।

-स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषयः

वेदार्थ में निरुक्त का महत्त्व

❑ आचार्या सूर्यादेवी चतुर्वेदा...

वेद का ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है और वेद के अर्थ भी अति गूढ़, गम्भीर हैं।[१] इस अतीन्द्रिय वेद, वेदार्थ के सुज्ञान के लिये ऋषियों ने शिक्षा, व्याकरण आदि ६ शास्त्रों की संरचना की है। इन शास्त्रों की वेदांग संज्ञा है। इन वेदांगों में निरुक्त का तृतीय स्थान है।

श्रोत्र रूप निरुक्त-

वेदांग निरुक्त का स्वरूप व कार्य निर्दिष्ट करते हुए पाणिनीय शिक्षा में कहा है–

निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। पा•शि•४१।।

अर्थात् वेदार्थ में निरुक्त श्रोत्र स्थानीय है।

जिस प्रकार व्यवहार में किसी भी बात का विस्तार और परिज्ञान कर्ण परम्परा से होता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों के गूढ़ अर्थों का विस्तार निरुक्त शास्त्र के ही द्वारा होता है।

निरुक्त निर्वचन का स्वतन्त्र शास्त्र

यद्यपि **रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्**,[२] कहकर महर्षि पतंजलि ने व्याकरण का महत्त्व ज्ञापित किया है, तथापि वेदार्थ में निरुक्त का ही महत्त्वपूर्ण अतिशय स्थान है। व्याकरण प्रकृति, प्रत्यय के सन्निवेश से शब्दों की यौगिकता की नींव रखता है, एक सुनिश्चित अर्थ को भी बताता है, परन्तु निरुक्त शब्द के यौगिकत्व को भी विस्तृत करता है और शब्द के अर्थ को विस्तार देता है। व्याकरण शब्दज्ञान कराता है, निरुक्त वेद के शब्दों के अर्थ ज्ञान का निर्वचन प्रकार निर्दिष्ट करता है। निरुक्त जहाँ व्याकरण का पूरक है, वहीं वह अर्थ निर्वचन का स्वतन्त्र शास्त्र है,[३] यह महर्षि यास्क ने निर्दिष्ट किया है। यास्क के कथन को सुस्पष्ट करते हुये दुर्गाचार्य ने कहा है–

तस्मात्स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानमर्थनिर्वचनम्।
व्याकरणं तु लक्षणप्रधानमिति विशेषः।।

–दुर्ग•निरु•१/५/१३,पृ•८६।।

अर्थात् इसलिये यह निरुक्त स्वतन्त्र ही अर्थ निर्वचन शास्त्र है। व्याकरण तो लक्षण=शब्द के वाच्य, वाचक कथन प्रधान वाला है।

निरुक्त की प्राचीन परम्परा

वेदार्थ दीपन में निरुक्त शास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। सम्प्रति यास्कीय निरुक्त ही सम्प्राप्त और प्रसिद्ध है। महर्षि यास्क ने स्व निरुक्त शास्त्र में आग्रायण,[४] औदुम्बरायण,[५] औपमन्यव,[६] और्णवाभ,[७] कात्थक्य,[८] क्रौष्टुकि,[९] गार्ग्य,[१०] गालव,[११] चर्मशिरस्,[१२] तैटीकि[१३], शतवलाक्ष,[१४] शाकपूणि,[१५] शाकपूणिपुत्र,[१६] स्थौलाष्ठीवि[१७] इन १४ आचार्यों का नाम उल्लेख कर निरुक्त की प्राच्य परम्परा का उद्घाटन किया है।

वेदार्थ में निरुक्त का महत्त्व

निरुक्त शास्त्र का वेदार्थ में क्या महत्त्व है? इसका निर्देश महर्षि यास्क ने निरुक्त के प्रथम अध्याय में भली भाँति निर्दिष्ट किया है। यास्क का कथन है–

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते,
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं
विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं
स्वार्थसाधकम् च।।–निरु•१/५/१३।।

अर्थात् निरुक्त के बिना मन्त्रों के अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अर्थ ज्ञान के बिना कोई भी निश्चित स्वर व संस्कार का बोध नहीं करा सकता।

अतः निरुक्त निर्वचन विद्या का शास्त्र है, व्याकरण का पूरक है, अपने स्वतन्त्र प्रयोजन वेदार्थ ज्ञान का साधक है।

अग्नि,[१८] वायु,[१९] इन्द्र[२०] आदि शब्द सामान्य से लगते हैं, और इनके आग, हवा, सूर्य ये सामान्य से अर्थ भी प्रसिद्ध हैं। परन्तु निरुक्त इन शब्दों के निर्वचन द्वारा इनके गूढ़, गम्भीर अर्थों को उद्घाटित व विस्तृत कर देता है। अग्नि शब्द का निरुक्तीय निर्वचन है–

अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।

– निरु॰७/४/१।।

अर्थात् अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं? क्योंकि यह अग्रणी होता है तथा यज्ञीय कार्यों में आगे ले जाया जाता हे। आदि आदि..।

अग्नि शब्द के निरुक्तीय निर्वचन से स्पष्ट हुआ जो अग्रणी हो, आगे ले जाने वाला हो वह अग्नि कहाता है। तो जैसे अग्नि मनुष्य का अग्रणी बन कर कार्य सिद्ध करता है, वैसे ही परमेश्वर, विद्वान्, आचार्य, राजा आदि भी कर्म की सिद्धि में अग्रणी होते हैं, तो ये भी अग्नि संज्ञक हुए और इन अर्थों में भी परमेश्वर की अग्नि संज्ञा प्रमुख है, क्योंकि उसके बिना जड़, चेतन कोई भी कार्य नहीं करता।

निरुक्त निर्वचन के इस आधार से ही **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ॰१/१/१) मन्त्र में आये अग्निम् शब्द का अर्थ मुख्यरूपेण ईश्वर होता है। महर्षि दयानन्द ने अग्निम् का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़कर अति विस्तार से अर्थ लिखा है।

वायु शब्द का निरुक्तीय निर्वचन है–

वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्यात् गतिकर्मणः।
एतेरिति स्थौलाष्ठीविः॥ –निरु॰१०/१/२।।

अर्थात् वायु शब्द **वा गतिगन्धनयोः** इस गत्यर्थक धातु से उण् (उणा॰१/१) प्रत्यय करके सिद्ध होता है अथवा वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन–खादनेषु धातु से उण् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। स्थौलाष्ठीवि निरुक्ताचार्य इण् गतौ धातु से उण् प्रत्यय द्वारा एवं वकार आगम करके सिद्ध करते हैं।

वायु शब्द के इस निर्वचन से ज्ञात हुआ कि जो भी गति करे, गति दे, वह वायु कहलाता है। गति करने से भौतिक वायु तो वायु कहाता ही है। परमेश्वर, विद्वान्, आचार्य, राजा आदि भी गति करने कराने के कारण से वायु कहाते हैं। इन अर्थों में भी वायु का परमेश्वर अर्थ मुख्य है, क्योंकि परमेश्वर के द्वारा दी गई गति से ही जड़, चेतन गति करते हैं।

वायवायाहि दर्शत....। (ऋ॰१/२/१) आदि मन्त्रों में वायु शब्द के परमेश्वर, हवा आदि अर्थ प्रसंगानुसार संगत होते हैं।

इन्द्र शब्द के निरुक्त में १४ निर्वचन किये गये हैं। यथा–

इन्द्र इरां दृणातीति वा
इरां ददातीति वा
इरां दधातीति वा
इरां दारयत इति वा
इरां धारयत इति वा
इन्दवे द्रवतीति वा
इन्दौ रमत इति वा
इन्धे भूतानीति वा
तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् इति विज्ञायते
इदं करणादित्याग्रायणः
इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः
इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः
इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा
आदरयिता च यज्वनाम्। (निरु.-१०/१/९)

अर्थात् जो जल को तोड़ता है, जल को देता है, जल को धारण करता है, जल को फाड़ता

है, जल को पोषित करता है, जल के लिये संचरण करता है, चन्द्रमा को दीप्त करता है, जल व चन्द्रमा में रमण करता है, प्राणियों को प्रकाश देता है, प्राणों के द्वारा इसे तेजस्वी बनाता है, जल को करता है, जो जगत् को देखता है, ऐश्वर्यवान होता है, ऐश्वर्यवान् होता हुआ शत्रुओं को फाड़ता है, दौड़ाता है व बसाता है, वह इन्द्र कहाता है।

इन्द्र शब्द के इस निर्वचन से स्पष्ट है कि जल आदि का कारण होने से सूर्य तो इन्द्र है ही, परमात्मा, जीवात्मा, विद्युत्, राजा, आचार्य आदि भी प्रकरणानुसार इन्द्र कहे जाते हैं। इनमें मुख्य इन्द्र ईश्वर है।

इन्द्रो दिव इन्द्र ईषे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्। (ऋ•१०/८९/१०)

आदि मन्त्रों में इन्द्र का मुख्य अर्थ ईश्वर है। मन्त्र का अर्थ है–इन्द्रः=परमेश्वर द्युलोक पृथिवी का स्वामी है। इन्द्रः=परमेश्वर, जल, पर्वत=मेघादि का अधिपति है।

निरुक्त निर्दिष्ट अग्नि आदि निर्वचनों से सुज्ञात है कि निरुक्त का वेदार्थ में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निरुक्त के निर्वचन के द्वारा ही अग्नि, वायु आदि शब्दों के अनेक अर्थ हुए हैं और अन्य शब्दों के भी अनेकार्थ होते हैं।

शास्त्रों के अन्वेषण से वेदार्थ के अनेक प्रकार ज्ञात होते हैं, उन अनेक प्रकारों का महर्षि यास्क ने निरुक्त में अनेकत्र निर्देश किया है। उन प्रकारों के नाम हैं–अधिदैवत, अध्यात्म, आर्ष, परिव्राजक, अधियज्ञ, नैरुक्त, वैयाकरण, नैदान, ऐतिहासिक एवं आख्यान।

वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया–

इन प्रकारों में महर्षि यास्क ने वेदार्थ के ३ प्रकार व्याख्यात किये हैं, जो वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया कहे जाते हैं। निरुक्त की पंक्तियाँ हैं–

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। (निरु•१/६/१८)

अर्थात् वेदवाणी के अर्थ ज्ञान को पुष्पफल कहा जाता है। और वे पुष्पफल यज्ञ सम्बन्धी पदार्थ एवं देवता=अग्नि, वायु आदि पदार्थ विषयक होते हैं। अथवा देवता=अग्नि, वायु आदि पदार्थ ज्ञान पुष्प है। और अध्यात्म=परमात्मा, जीवात्मा विषयक ज्ञान फल है।

इस यास्कीय निरुक्त वचन से स्पष्ट है कि वेदार्थ याज्ञिक, दैविक, आध्यात्मिक ३ प्रकार का होता है। निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य,[२१] स्कन्द[२२] आदि ने भी इन तीन प्रकारों का अनुसरण करते हुए ही मन्त्रों का व्याख्यान किया है।

निरुक्त निर्दिष्ट वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया का ही अनुसरण महर्षि दयानन्द ने भी किया है। याज्ञिक प्रक्रिया=कर्मकाण्ड का उन्होंने श्रौत, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में व्याख्यान होने से विस्तार, या पिष्टपेषण नहीं किया। पारमार्थिक=आध्यात्मिक, व्यावहारिक अर्थ ही किये हैं। महर्षि ने आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थों का समावेश तो व्यावहारिक अर्थ में कर दिया है।[२३]

वेद अर्थ ज्ञान आवश्यक

वेदार्थ का ज्ञान करना भी नितान्त आवश्यक है। अन्यथा वेद भारवत् हो जाते हैं, क्योंकि अर्थज्ञान होने पर ही उन मन्त्रों से अपनी उन्नति, कल्याण का मार्ग ढूँढ़ सकते हैं। निरुक्तीय वचन है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। यो अर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।

निरु•१/६/१७।।

अर्थात् जो पाठ मात्र करता है, अर्थ नहीं जानता, वह स्थाणुः=वृक्ष या गर्दभ की भाँति भार उठाने वाला होता है, जो वेद के अर्थ को जानता है, वह पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है और ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर, मृत्यु के पश्चात् सुख को प्राप्त

करता है।

इस प्रकार सुस्पष्ट हुआ कि निरुक्त का वेदार्थ में महत्त्वपूर्ण योगदान है, वेदार्थ की कुंजी है। यास्क ने त्रिविध प्रक्रिया के निर्देश व निर्वचन विद्या द्वारा वेदमन्त्रों के अर्थकरण का जो मार्ग निर्देश किया है, वह अत्यन्त उपादेय है। निरुक्त शास्त्र ने वेद मन्त्रों के यज्ञपरक ही[२४] अर्थ होते हैं, इस पक्ष का भी त्रिविध प्रक्रिया द्वारा निराकरण कर दिया है। निरुक्त शास्त्र को पढ़े बिना वेदार्थ असम्भव है।

सन्दर्भ-सूची :-

१• न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद् वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात्। सांख्य द•५/४१।।
२• महाभा•नवाह्निक,पृ•१३।।
३• व्याकरणस्य कात्स्र्न्यं स्वार्थसाधकम् च। निरु•१/५/१३।।
४• निरु•१/३/८, ६/३/१३।।
५• निरु•१/१/२।।
६• निरु•१/१/१, २/१/३, २/२/६, २/३/११, ३/२/७, ३/४/१, ३/४/२, ५/२/३, ६/६/३०, ६/६/३०, १०/१/६।।
७• निरु•२/७/४, ६/३/१३, ७/४/२, १२/१/१, १२/२/८।।
८• निरु•८/२/२, ८/२/४, ८/३/२, ६/४/८, ६/४/६।।
६• निरु•८/२/२।।
१०• निरु•१/१/३, १/४/११, ३/३/१३।।
११• निरु•४/१/३।।
१२• निरु•३/३/२।।
१३• निरु• ४/१/३, ५/४/६।।
१४• निरु•११/१/६।।
१५• निरु•२/२/५, ३/२/५, ३/३/१, ४/१/३, ४/२/७, ५/१/१३, ५/३/१, ५/४/६, ७/६/२३, ७/७/५, ८/१/२, ८/२/२, ८/२/३, ८/२/४, ८/२/७, ८/२/१२, ८/३/२, १२/२/८, १२/४/६, १३/१०।।
१६• निरु• १३/११।।
१७• निरु•१०/१/२।
१८• अंगति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स अग्निः, वह्निः प्रसिद्धो वा, उणा•४/५१।।
१६• वाति गच्छति जानाति वेत्ति इति वायुः पवनः, उणा•१/१।।
२०• इंगति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः, आदित्यः, उणा•२/२६।।
२१• अतो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते। दुर्ग•निरु•१/६/१८,पृ•१०७।।
२२• सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः। स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। स्कन्द•भाग•२,निरु•७/२/५,पृ•३६,३७।।
२३• कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषण-दोषापत्तेश्चेति।....अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिक-व्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।
—ऋ•भा•भू•प्रतिज्ञा•,पृ•३७१,३७२।।
२४• वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। वेदांगज्योतिषम्, पृ•२४५।।

प्राचार्या-
पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी-१०
सम्पर्क - **आचार्या, आर्य कन्या गुरुकुल शिवगंज, सिरोही ३०७०२७ (राज)**

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़ के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य सत्य वेद व्याख्यान किये हों, उनको देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें। **-स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषय**

वैदिक शिक्षाशास्त्र

(वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्र की वेदमूलकता)

❑ **आचार्य उदयन मीमांसक...**

भगवत्प्रदत्त ज्ञान का ही नाम वेद है । उसी का अपर नाम 'श्रुति' है, क्योंकि सृष्ट्यादि से लेकर वह वेदज्ञान श्रुतिपरम्परा अर्थात् अध्ययन-अध्यापन की परम्परा से ही आ रहा है । ऐसी स्थिति में उस ज्ञानधरोहर को भावी पीढियों को प्रदान करने हेतु जहाँ प्रखर मेधाशक्ति की आवश्यकता है, वहाँ शुद्ध उच्चारण एवं शुद्ध श्रवण की भी महती आवश्यकता है ।[१] इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों से कालान्तर में धीरे-धीरे वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्र रचित हुआ । इस शास्त्र के प्रादुर्भाव से पूर्व इसकी बहुत लम्बी परम्परा वा इतिहास है । यदि इसके मूलस्रोत की चर्चा की जाय तो निश्चितरूप से कह सकते हैं कि इसका मूलस्रोत वेद ही है ।[२] क्योंकि वेद ही सभी विद्याओं का मूल है । यद्यपि मध्यकालीन कुछ आचार्यों ने यह धारणा प्रचलित की है कि 'वेद केवल यज्ञों के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं' । उनकी यह धारणा भी आधी-अधूरी मान्यता पर आधृत है, अस्तु । महर्षि दयानन्द ने उस धारणा का प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि **''यत् सायणाचार्येण वेदानां परमार्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम्' तदन्यथास्ति । कुतः? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्** '' (ऋ० भा० भूमिका, वेदभाष्यकरण०) अर्थात् सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जानकर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं' । यह उनकी बात मिथ्या है, क्योंकि वेद सब विद्याओं से युक्त हैं । सब विद्याओं में शिक्षाशास्त्र की विद्या अपवाद नहीं हो सकती अर्थात् शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों के सूत्र भी वेदों में विद्यमान हैं । उन्हीं सूत्रों का दिग्दर्शन इस लेख में किया जा रहा है ।

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदाङ्गानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ।।

(म०भा० शान्ति० २८७.२१-२२)

वेद का एवं छह वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का अध्ययन जिज्ञासापूर्वक अर्थ के साथ करना धर्म है और उस धर्म का पालन करना निस्सन्देह रूप से श्रेयस्कर है । महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है - **''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति''** (म०भा०पस्प०) । ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु को किसी धनादि की अपेक्षा किये विना ही छह वेदाङ्गों के साथ वेद का अध्ययन अर्थ के साथ करना चाहिए, यही उसका धर्म है, कर्तव्य है ।

इन वचनों में स्पष्टतया कहा गया है कि वेदादि शास्त्रों का अध्ययन केवल शाब्दिक न होकर अर्थ के गम्भीर चिन्तन - मनन के साथ करना चाहिए । इस प्रकार की शिक्षा हमें किस गुरु से करनी चाहिए तथा कैसे करनी चाहिए ? इस विषय में वेद हमें मार्गदर्शन करता है कि -

सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ।।(ऋ० ६.५४.१)

हे (पूषन्) पोषणकर्ता परमेश्वर! आप हमें (विदुषा संनय) उस विद्वान् से मिलाईये, (यः अञ्जसानुशासति) जो सरलता से, शीघ्रता से, साक्षात् सत्य सिद्धान्त का उपदेश करता है और (यः इदमेव इति ब्रवत्) जो अधिकारपूर्वक यह कह सके कि 'यह ऐसा ही है' यही सत्य है, यही शुद्ध है, आदि ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।।

(अथर्व० १.१.२)

हे वाणी के अधिपति आचार्य ! आप शास्त्रीय गम्भीर तत्त्वों के अध्यापन हेतु हमारे समीप दिव्य (ज्ञान के दान की) भावना के साथ वार-वार आईये तथा एक ही मन्त्र व विषय के विविध पक्षों (पहलुओं) को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कीजिए, यही आपके तत्त्वज्ञान का पुनरागमन है, यही आपकी विविधता का प्रकटीकरण है । हे ज्ञानधन के स्वामिन् आचार्य! आप हमें शास्त्रीय ज्ञान इसप्रकार पढ़ाईये, जिससे कि हमारा मन प्रसन्नता

से विद्या में रमें और साथ में आप से प्राप्त वह दिव्यज्ञान मुझमें स्थिर रहे, कभी विस्मृत न हो ।

शास्त्रीय गम्भीर तत्त्वों के पढ़ने एवं पढ़ाने में गुरु-शिष्यों के कर्तव्यों पर यह मन्त्र पर्याप्त प्रकाश डाल रहा है । गुरुमुख से उच्चरित ज्ञान को शिष्य सावधान होकर, एकाग्र होकर सुनें एवं श्रद्धा के साथ सुनें, तभी वह ज्ञान अन्तःपटल पर अंकित हो पायेगा - **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** (गीता ४.३९) । स्वामी दयानन्द ने भी कहा है कि - ''आगमकाल उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ प्राप्त कर सकें । स्वाध्यायकाल उसको कहते हैं कि जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक - ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें । प्रवचनकाल उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना ।......... श्रवण उसको कहते हैं कि आत्मा मन के साथ और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो - जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें, उसको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना ....(व्यवहारभानु) । इस प्रकार श्रवण के साथ मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करेंगे तभी **''मय्येवास्तु मयि श्रुतम्''** की प्रार्थना सार्थक होगी । इन मन्त्रों में शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी मूलभूत एवं प्राथमिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है ।

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये० (यजु० ३६.१)

मैं वाग्विज्ञान को जानने के लिए ऋङ्मन्त्रों का आश्रय लेता हूँ, वाणी के प्रेरक मन के विज्ञान को जानने के लिए यजुर्मन्त्रों के शरण में जाता हूँ, मन के नियन्त्रक प्राण के विज्ञान को जानने के लिए साममन्त्रों की छाया में जाता हूँ और उन प्राण, मन एवं वाणी के प्रयत्नों से अभिव्यक्त शब्द को सुनने हेतु, श्रवणविज्ञान को जानने हेतु चक्षुर्मन्त्रों (=ज्ञानमन्त्रों, अथर्वमन्त्रों) की सहायता लेता हूँ ।

यहाँ वेदमन्त्र स्वयं कह रहा है कि जिज्ञासु को वर्णोच्चारण के विज्ञान को सम्पूर्णतया जानने के लिए चारों वेदों की सहायता से वाग्विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणविज्ञान तथा श्रोत्रविज्ञानों को विभागशः जानना चाहिए । इतना ही नहीं शब्दस्वरूप को जानने के लिए और एक विभाग को भी जानना अनिवार्य है । वह इस प्रकार है -

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः (यजु० १९.७७)

प्रजापति (ईश्वर) ने वाक्तत्त्व को सत्य (=नित्य व स्फोट शब्द) एवं अनृत (=अनित्य व ध्वन्यात्मक शब्द) के रूप में विभाजित किया था । अर्थात् ईश्वर ने सर्गादि में उत्पन्न हुए पवित्रतम चार ऋषियों के अन्तःकरण में वेदज्ञान को प्रादुर्भूत (प्रस्फुटित) किया; वहाँ कोई वाणी का व्यवहार नहीं था । तदुपरान्त ईश्वर की प्रेरणा से ऋषियों ने मानवसमाज को वेद का उपदेश किया । तब ध्वन्यात्मक शब्द का व्यवहार होने लगा । तैत्तिरीय संहिता में भी इसका उल्लेख है - **वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति...तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते** (६.४.७.३-४) ।

पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।। ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।। (ऋ० १.१६४. ३४,३५)

वाणी का परमोत्कृष्ट विशेष रक्षक, आश्रय कौन है? ब्रह्म ही है । यहां भी स्पष्ट वर्णन है कि वाणी (शब्द) का उत्पादक ब्रह्म ही है ।[३]

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः । तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ।। (ऋ० १०.१७७.२)

(पतङ्गः) जन्म-जन्मान्तरों में गमनशील जीवात्मा[४] (वाचम्) वाणी को, शब्दों को (मनसा) मन से, मन की सहायता से (बिभर्ति) धारण करता है[५], अर्थात् कहने की इच्छा से जीवात्मा मन को प्रेरित कर शब्द उत्पन्न करता है । परन्तु आत्मा केवल मन की सहायता से शब्द को धारण व उत्पन्न नहीं कर सकता । अतः मन्त्र आगे कहता है– (गर्भे अन्तः) मन के अन्दर आत्मा द्वारा प्राप्त प्रेरणा के रूप में विद्यमान अनभिव्यक्त (ताम्) उस वाणी को (गन्धर्वः) प्राणवायु[६] द्योतित [प्रकाशित] करता है[७], व्यक्त करता है । अर्थात् वायु कण्ठबिल में नाद को उत्पन्न कर कण्ठ आदि स्थानों में शब्द को व्यक्त करता है, श्रोत्र का विषय बनाता है । जो कि मन के अन्दर निहित था ।[८] (ताम्) उस (द्योतमानाम्) द्योतमान

(स्वर्यम्) स्वर्गमयित्री, स्वर्ग के लिए हितकारिणी, (मनीषाम्) मनोगत आत्मेच्छा को अर्थात् आत्मेच्छा से जनित वाणी को(कवयः) ऋषि आदि मेधावी, ज्ञानी जन (ऋतस्य) ज्ञान के (पदे) स्थान में (नि पान्ति) निश्चय से, भलीभान्ति रक्षा करते हैं अर्थात् अध्यापन से उसकी रक्षा करते हैं ।[९]

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वतां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥

(ऋ० ७.१०३.१)

वाग्विद्या का ग्रहण करनेवाला व्रतचारी ब्रह्मजिज्ञासु वर्षभर[१०] नियमों में रहता हुआ, श्रद्धा - निष्ठा के साथ शिक्षा को ग्रहण करता हुआ प्रवीणता को प्राप्त करें और स्वर एवं मधुरता आदि के साथ शुद्ध, स्पष्ट तथा सार्थक वाणी को वैसे ही हर्षोल्लास से बोलें, जैसे कि वर्षा काल में मेंढ़क बोलते हैं ।

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥

(ऋ० ७.१०३.५)

शिक्षा ग्रहण करने वालों में एक शिष्य प्रशिक्षित होता हुआ सर्वथा शुद्ध बोलने में समर्थ आचार्य के समान बोलता है । ऐसे शिष्य का (पर्व) पालन करने योग्य कर्तव्य है कि वह (अप्सु अधि) प्राप्त सतीर्थ्यों में भी सर्वोत्तम शुद्ध एवं सुन्दर वाणी को बोलें । यही उसकी समृद्धि है ।

इस प्रकार शुद्धतम वाणी के उच्चारण में कुशलता को प्राप्त किया हुआ विशिष्ट विद्यार्थी 'वसिष्ठ' उपाधि को प्राप्त कर लेता है - **वाग् वै वसिष्ठा** (शत० ब्रा० १४.९.२.२), **ये वै ब्राह्मणा शुश्रूवाँस्ते वसिष्ठाः** (जैमि० ब्रा० २.२४२), **वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत** (ऋ० १०.६६.१४) । वसिष्ठ नामधारी व्यक्तिविशेष की वाणी के प्रभाव को देखें - **तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥**

(ऋ० १०.५३.४)

योग्यताविशेष को प्राप्त करने के पश्चात् वेदमन्त्रों का आज वह उस प्रथम स्थानीय अर्थात् पदशः, वर्णशः, स्वरशः सर्वथा शुद्ध उच्चारण करता है, जिससे मैं और देव हम सब आसुरी शक्तियों को पराजित कर दैवी भावों को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार के ओजस्वी वाणी वाले एवं यजनशील आदि सभी जन मेरे अर्थात् वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान प्रीतिपूर्वक सेवन करें । वाणी के इसी प्रभाव का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है - **तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः** (शत०ब्रा० ३.२.१.२३), **तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः** (महाभाष्य - पस्प०), **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥** (म.भा. पस्प०) । वाणी की इस महिमा का पूरा वर्णन हमें वाक्सूक्त (ऋ० १०.१२५. १-८) में स्पष्टतया दृग्गोचर होता है । पांचवें मन्त्र में विविध देवों एवं विशिष्ट पुरुषों द्वारा सेवित वाणी स्वयं कह रही है कि मैं जिसे चाहती हूँ , उसे ब्रह्मवेत्ता, ऋषि व सुमेधासम्पन्न बनाती हूँ । इतना ही नहीं छठे मन्त्र में वाणी कह रही है कि वाणी का दुरुपयोग करने वाले, ब्रह्मद्वेषी पर वाग्वज्र बनकर उसका हनन भी करती हूँ ।११ इससे स्पष्ट है कि अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए यज्ञों में मन्त्रादियों का पूर्णरूप से शुद्ध बोलना अनिवार्य है, अन्यथा अनिष्ट फल प्राप्त होगा ।

तं गीर्भिर्वाचमीङ्खयं पुनानं वासयामसि ।
सोमं जनस्य गोपतिम् ॥ (ऋ० ९.३५.५)

(वाचमीङ्खयम्) वाणी को उत्पन्न (प्रेरित) करने वाले (सोमम्) आत्मा में स्थित ज्ञान को, जो कि अभिव्यक्त होकर (जनस्य गोपतिम्) लोगों की वाणी व इन्द्रियों को पवित्र करने वाला है, (तम्) उस ज्ञानस्रोत को (गीर्भिः पुनानम्) शुद्ध वाणियों, शब्दों से अपभ्रंशादि दोषों से रहित करते हुए, शुद्ध करते हुए (वासयामसि) आच्छादित करते हैं, रक्षण करते हैं।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः । (ऋ० ४.५८.६)

वाणी (भाषा) हृदय (आत्मा) और मन से पवित्र की जाती हुई नदी के समान निरन्तर प्रवाहित होती रहती है ।

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तम् (अथर्व० १३.२.२) - (प्रज्ञानाम्) बुद्धि की विभिन्न शक्तियों की आन्तरिक (दिशाम्) दिशाओं में (स्वरयन्तम्) विभिन्न स्वरों (शब्दों) को प्राप्त करते हुए.....। इस मन्त्र में बुद्धिस्थ मध्यमा वाक् का उल्लेख है ।

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥

(ऋ० ९.१०१.६)

(वाचमीङ्खयः) वाणी को प्रेरित करने वाला और

(सहस्रधारः) विभिन्न शब्दों (ध्वनियों) को उत्पन्न करने वाला, विविध धाराओं (गतियों) वाला प्राण (समुद्रः-सम्+उद्+द्रु) यथोचित गति से ऊपर को उठता हुआ (पवते) मुख की ओर बहता है, जिससे शब्द उत्पन्न होते हैं । इसप्रकार शब्दों को (दिवे-दिवे) प्रतिदिन उत्पन्न करता हुआ अर्थात् उपदेश व अध्यापन करता हुआ (सोमः) ज्ञानी पुरुष (रयीणां पतिः) सब प्रकार के ज्ञाननिधियों का अधिपति, संरक्षक होता है । इस प्रकार वेदवाणी का संरक्षक पुरुष (इन्द्रस्य सखा) परमात्मा का मित्र हो जाता है ।

वाणी दो प्रकार की होती है - (१) शाब्दिक, जो कि केवल जिह्वा से बोली जाती है, अर्थ ज्ञात नहीं होता है, ऐसी वाणी का कोई प्रभाव नहीं होता , इसलिए सर्वत्र अर्थरहित वेदाध्ययन की निन्दा की गयी है । (२) दूसरी जो आर्थिक वाणी है, जो कि मनन - चिन्तन के साथ मन से बोली जाती है, यह हृदयग्राही होती है । जैसे कि वेद भी कहता है कि - **''हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना''** (ऋ० १०.४७.७) । यथार्थ में यही वाक् (वाणी, भाषा) है[१२] । इसे हम 'हार्दिकी वाक्' कह सकते हैं । यह वाक् आत्मा और परमात्मा के बीच में दूत का कार्य करती है । जिससे आत्मा की स्तुतियाँ परमात्मा तक पहुँचतीं हैं और परमात्मा के सन्देश आत्मा तक पहुँचते हैं -**''वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः** (ऋ० १०.४७.७) । इसलिए हमें हार्दिकी वाक् का अभ्यास करना चाहिए -**''हार्दिकीं वाचं वदेमेत्यध्येयं शिक्षाशास्त्रम् ''।** अन्य आचार्यों ने इसे मानसिकी कहा है - **मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति** (ऐतरेयारण्यक ३.१.१), **मनसैव वाग् धृता** (कपिष्ठलकठसंहिता - ३७.४) ।

अभी तक प्रस्तुत वेदमन्त्रों में वर्णित विषय को ही शिक्षाकारों ने विस्तृतरूप से अर्थात् क्रमशः कार्य-कारणभाव के साथ कहा है -

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
(श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा- ६,७)

आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः। स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ।। (पाणिनीयशिक्षा- १)

शब्द एवं अर्थ के कार्यकारणभाव में भी संशय उत्पन्न होता है और इस विषय की चर्चा शास्त्रों में यथावसर पर्याप्त की गई है । इसका भी समाधान ऊपर उद्धृत मन्त्रादियों में किया गया है कि अर्थ पहले आत्मा में विद्यमान रहता है, तत्पश्चात् तदनुकूल शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् शब्द अर्थनिमित्तक है, न कि अर्थ शब्दनिमित्तक । अत एव भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है- **'अर्थनिमित्तक एव शब्दः'** (म०भा० १.१.४६) । अन्यत्र भी कहा गया है कि - **चिदसि मनासि धीरसि...**(यजु० ४.१९) वाणी (शब्द) अभिव्यक्त होने से पूर्व आत्मा में रहने वाली है, मन में विद्यमान रहने वाली है और बुद्धि में भी रहने वाली है ।

शब्द के पश्यन्ति, मध्यमा एवं वैखरी रूप जो तीन भेद हैं,[१३] वे भी ऊपर के मन्त्रादियों में स्पष्ट दीखते हैं, इनका स्वरूप निम्नप्रकार है -

१. शब्द पहले अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अर्थात् अव्यक्तावस्था में पहले आत्मा में स्थित रहता है । जो कि प्राणवृत्तियों से विहीन, लोकव्यवहारातीत, अपभ्रंश आदि दोषों से रहित, विशुद्ध ज्ञान मात्र है, **नित्य है**[१४]**,** कारक, प्रकृति प्रत्यय आदि विभागों से अतिक्रान्त होने से व्याकरण शास्त्र से परे है, केवल योगियों के द्वारा ही अधिगम्य है । इसे ही 'पश्यन्ती' कहते हैं ।[१५]

२. मध्यमा वाक् बुद्धिस्थ है । इसका उपादान कारण बुद्धि है । यह अन्तःसन्निविष्ट अर्थात् मन आदि करणस्थ नहीं है, सूक्ष्मप्राणवृत्तिजन्य है । वर्णात्मक क्रम को ग्रहण करती हुई सी होती है अर्थात् इस क्रमविशिष्ट शब्द का उच्चारण करूँगा - इस प्रकार का बुद्धि में जो शब्दाकार बनता है, यही मध्यमा वाक् है ।[१६] जो कि केवल वक्ता के द्वारा ही अधिगम्य है ।

३. वैखरी वाक् स्थूलप्राणवृत्तिज है, ताल्वादि अवयवस्थ है, दूसरों के द्वारा ज्ञेय है अर्थात् श्रोत्र से ग्राह्य है तथा विशिष्ट आनुपूर्वी के रूप में स्पष्टतया श्रूयमाण होती है । **जो कि अनित्य है ।**[१७]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि शब्द की उत्पत्ति किसी एक स्रोत से नहीं होती है, अपितु सात स्रोतों से होती है । वे

हैं - १. आत्मा, २. बुद्धि, ३. मन, ४. कायाग्नि, ५. मारुत (प्राण), ६. उरः (फेफड़ों का वायु), ७. वक्त्र (काकुद, मुखदेश)। इन्हीं सात स्रोतों को वेद **''सप्त सिन्धु''**[१८] कहता है -

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।।

(ऋ० ८.६९.१२)

यद्यपि महाभाष्यकार पतञ्जलि पस्पशाह्निक में **'सप्त सिन्धवः'** का अर्थ **'सात विभक्तियाँ'** करते हैं । पर इस अर्थ में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, यथा- वाक् केवल नामों (प्रातिपदिकों) से उत्पन्न सात विभक्तियों (विभक्त्यन्तों) में ही सीमित नहीं होती है, अपितु तिङन्तरूपी छह विभक्तियों (पुरुषों) में भी रहती है । यह वाक् भी काकुद को प्राप्त होती है । 'सप्त' के ग्रहण से तिङ्न्तों (छह पुरुषों) का और सुबन्त - तिङन्तों को मिलाकर (७ + ६ =) १३ विभक्तियों का ग्रहण नहीं कर सकते इत्यादि । कुछ लोग **'सप्त सिन्धवः'** से सात छन्दों का ग्रहण करते हैं । पर छन्द न्यूनाधिक भी सम्भव हैं । अत एव शिक्षाशास्त्र के परिप्रेक्ष में **''सप्त सिन्धवः काकुदम् अनुक्षरन्ति ''** का उपर्युक्त अर्थ ही स्वाभाविक तथा अपेक्षाकृत समीचीनतम होगा । शब्द के सात स्रोतों (सिन्धुओं) में न्यूनाधिकता की सम्भावना भी नहीं है और ना ही बलात् व्याख्या झलकती है ।

वाक् इन सात सिन्धुओं से निकलती हुई तीस धामों में विराजमान होती है, धारित होती है -

'' त्रिंशद् धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ।।

(ऋ० १०.१८९.३)

वाणी तीस धामों में रहती है और वह पतङ्ग (जीव) की उन्नति के लिए धारित होती है । इसे धारण करनेवाला मनुष्य प्रतिदिन निश्चितरूप से ज्ञानज्योतियों से आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक आदि सर्वविध उन्नति को प्राप्त करता है, एक दिन मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है । मनुष्येतर अन्य प्राणियों में शब्दोच्चारण के लिए उक्त सात सिन्धुओं (स्रोतों) का संयोजन न होने से और वक्ष्यमाण तीस धामों को उपयोग में लाने का सामर्थ्य न होने से मनुष्य जैसी वाणी की उत्पत्ति नहीं होती । फलतः उनमें ज्ञानज्योति भी प्रदीप्त नहीं होती, अन्धकार (अज्ञान) ही परिव्याप्त होता है । वे तीस धाम इसप्रकार हैं - **स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः** (पा.शिक्षा - ४)

इस सूत्र में वर्णोत्पत्ति व वर्णभेद के तीन कारण बताये गये हैं - स्थान, करण और प्रयत्न (अन्तःप्रयत्न, बाह्ययत्न)। इसी क्रम से तीस धामों को देखते हैं -

आठ स्थान (१. उरः, २. कण्ठ, ३. मूर्धा, ४. जिह्वामूल, ५. ऊपर के दाँत, ६. नासिका, ७. ऊपर का ओष्ठ, ८. तालु - द्रष्टव्य पा. शिक्षा ८.२८), **दो करण** (जिह्वा एवं नीचे का ओष्ठ), **पांच अन्तःप्रयत्न** (१. स्पृष्टत्व, २. ईषत्स्पृष्टत्व, ३. संवृतत्त्व, ४. विवृतत्त्व ५. ईषद्विवृतत्त्व - द्र. पा. शिक्षा ८.२९), **पन्द्रह बाह्ययत्न** (१. ह्रस्व, २. दीर्घ, ३. प्लुत, ४. विवार, ५. संवार, ६. श्वास, ७. नाद, ८. अघोष, ९. घोष, १०. आनुनासिक्य, ११. अल्पप्राण, १२. महाप्राण, १३. उदात्त, १४. अनुदात्त, १५. स्वरित - द्र. पा. शिक्षा ८.३०-३१) । इन सबका योग (८+२+५+१५=३०) तीस होता है । इन्हीं में वाक् विद्यमान होती है । इसीलिए श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षाकार ने इन्हें वाणी के धाम कहा है - **''गोर्धामैतत् प्रचक्षते''** (४०) ।

मनुष्य में प्रविष्ट (प्राप्त) इसी वाणी का विभाजन अन्यत्र भी मिलता है -

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ।। (ऋ० ४.५८.३)

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ''त्रिधा बद्धः'' की व्याख्या शिक्षाशास्त्र परक ही की है - **''त्रिधा बद्धः = त्रिषु स्थानेषु बद्धः - उरसि कण्ठे शिरसीति ''** (पस्प०) । उरः, कण्ठ और शिर (मूर्धा) इन तीनों स्थानों में महान् देव (वाणी) बद्ध है । दो शीर्षवाली (नित्य - अनित्यरूपी अथवा वैदिक - लौकिकरूपी) वाणी स्थान, करण और प्रयत्नरूप में तीन प्रकारों से बद्ध (उत्पन्न होने योग्य) है, ऐसा भी समझ सकते हैं ।

अभी तक शब्दोत्पत्ति का विषय वेदमन्त्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति के

लिए शब्दोत्पत्ति का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता, अपितु साथ में शब्दोच्चारण में होने वाले वाग्दोषों को जानना भी अनिवार्य है। अत एव सभी शिक्षाकारों ने इसविषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस विषय के मूल सूत्र भी हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। वस्तुतः शब्द तो उसे ही कहते हैं, जो अर्थानुकूल शुद्ध उच्चारित है, शेष तो अपशब्द (अशुद्धशब्द) ही हैं। महर्षि दयानन्द ने भी ''वाक्'' शब्द का अर्थ 'शुद्ध वाणी' ही माना है। यथा- **वाचम्= शुद्धां वाणीम्** (ऋ० ३.८.५); **वेदादिशास्त्रसंस्कृतां वाणीम्** (ऋ०१.११२.२४), **सुशिक्षितां वाणीम्** (ऋ० १.१२९.१), **विद्याधर्मसत्याऽन्वितां वाणीम्** (ऋ०१.१३०.६)। महर्षि के **''वेदादिशास्त्रसंस्कृतां वाणीम्''** इन शब्दों से स्पष्ट है कि वे भी वाग्दोषों का परिष्कार वेदाङ्ग शिक्षाशास्त्रादि के अतिरिक्त वेद से भी मानते हैं। तो वाग्दोषों के परिष्कार के उपाय वेदमन्त्रों में किसप्रकार वर्णित हैं, उन्हें भी दिखाते हैं -

वेद की दृष्टि में वाग्दोष दो प्रकार के हैं- १. शाब्दिक और २. आर्थिक।

यन्मे छिन्द्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु (यजु० ३६.२)

पूर्वोद्धृत वेदमन्त्रों में वर्णित वाग्विज्ञान को ग्रहण करने में मेरे चक्षुरादि (चक्षु, वाक्, श्रोत्र) बाह्य इन्द्रियों में, हृदय (आत्मा) में और मन (उपलक्षणता से बुद्धि) आदि अन्तरिन्द्रियों में जो छिद्र हैं, दोष हैं व सामर्थ्य की न्यूनता है, उसे वाक्पति प्रभु नष्ट करें, दूर करें। इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि वर्णोच्चारण सम्बन्धी वाग्दोषों एवं श्रवणसम्बन्धी कर्णेन्द्रियदोष अर्थात् शाब्दिक दोष दूर हों और श्रुतशब्द के अर्थग्रहण करने में मन, बुद्धि तथा आत्मा में विद्यमान असामर्थ्यरूपी दोष अर्थात् अर्थसम्बन्धी दोष दूर हों।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। (ऋ० १०.७१.२)

वाणी का प्रयोग शुद्ध करके वैसे ही बोलना चाहिए, जैसे कि छलनी से छान कर शुद्ध आटे को ही प्रयोग में लाते हैं। इस मन्त्र में भी अर्थ के अनुकूल शुद्ध वर्णों के उच्चारण का उल्लेख है, साथ में सम्भावित उच्चारणदोषों को जानकर उन्हें अर्थात् शाब्दिक दोषों को दूर करें।

यथार्थतः शब्द का स्वरूप शब्द (ध्वन्यात्मक) और उसके अर्थ दोनों पर निर्भर है। अर्थ में जो शब्दत्व है, वही मुख्य शब्द है, ध्वन्यात्मक शब्द में जो शब्दत्व है, वह गौणशब्द है। क्योंकि वह केवल अभिव्यञ्जकमात्र है। अभिव्यञ्जक शब्दों की आवश्यकता दूसरों के लिए होती है, अपने लिए नहीं। क्योंकि व्यक्ति जब अपने आप में विचार करने लगता है, तब विना ध्वन्यात्मक शब्दों के ही अर्थात्मक मुख्य शब्दों का प्रवाह चलता रहता है, इसीलिए अर्थरूपीशब्द ही शब्द है।[१९] ऐसा ही वेदमन्त्रों में भी देखा जाय तो अर्थरूपी मुख्यशब्द और ध्वन्यात्मक गौणशब्द में ही सम्पूर्ण शब्दत्व (वेदत्व) निहित है- **''वेदत्वं शब्दतदर्थोभयवृत्तिः''** (उद्योत, महाभाष्यम्, पस्प०,आगमः खल्वपि)। इसलिए अर्थात्मक मुख्यशब्द के विना केवल ध्वन्यात्मक गौणशब्दों में ही वेदत्व समझना अज्ञानता है, मन एवं बुद्धि की विकलता का द्योतक है।[२०] इस बौद्धिक विकलता रूपी दोष को दूर करने का निर्देश वेद ने स्पष्टरूप से कर दिया है- **''यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति०''** (ऋ० १.१६४.३९), **उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्** (ऋ० १०.७१.४)। वेद के इन मन्त्रों से प्रेरित होकर यास्कमुनि ने भी निरुक्त में लिखा है कि- **''स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ...। यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्...** (निरु० १.१८)''। अर्थ रहित मन्त्रोच्चारण से वेदत्व की हानि होने से ऐसे शब्दपाठी को वेद ने **'ब्रह्मद्वेषी'** (वेदद्वेषी, वाग्दोषी) कहा है और उसे दण्डित करने का भी विधान किया है- **''धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे''** (ऋ० १०. १२५.६)।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी ऋग्वेद ने विविध वाग्दोषियों का उल्लेख कर उन्हें भी दण्डित करने का विधान किया है। **''यो वाचः विवाचो मृध्रवाचः पुरु सहस्राशिवा जघान''** (ऋ० १०.२३.६) जो आचार्य वाणी से विवाची (=विविध दोषों को) करने वाले को, मृध्रवाचः=कटुभाषी को

और अत्यधिक अशिव=अभद्र बोलने वाले को दण्डित करता है।

अभी तक वैदिक शिक्षाशास्त्र के सामान्य प्रकरण को प्रतिपादित कर अब विशेष प्रकरण का प्रतिपादन करते हैं -

शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को जोड़ने वाले अर्थात् शब्दों को बोलने वाले के लिए वेद में 'स्वरण' शब्द आया है- **स्वरणम्= यः स्वरति शब्दार्थसम्बन्धानुपदिशति, तम्** (दयानन्द, ऋ० १.१८.१) । स्कन्द एवं स्कन्दस्वामी, महेश्वरों ने (निरु० ६.१०) स्वरण का अर्थ शब्दों का उच्चारयिता किया है। उच्चारण एक क्रिया है, और क्रिया को साधन की आवश्यकता तो होती ही है। यहाँ उच्चारणक्रिया का प्रमुख साधन मूँह (मुख, आस्य) है, यह सर्वविदित है। इसका भी स्पष्ट उल्लेख वेद में प्राप्त होता है -

''एते वदन्ति शतवत् सहस्रवद् अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः। विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत।''(ऋ० १०.९४.२)

सोम को कूटने में प्रयुक्त पत्थर हरित मुखी होकर होता से पूर्व ही सोम का पान करते हैं और उन्हीं हरित मुखों से सैकड़ों व हजारों के समान शब्द करते हैं। यहाँ स्पष्ट वर्णित है कि मुख खाने व पीने का साधन है और साथ में बोलने (उच्चारण करने) का भी साधन है। इसके लिए वेदों में वाक् शब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उसी से वाणी की उत्पत्ति होती है।[२१] यथा - ऋ० १०.११०.११ की व्याख्या करते हुए यास्कमुनि ने (निरु० ८.२१) **''वाचि''** का अर्थ **''आस्ये''** लिखा है। सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है - **''अत्र वागाश्रय-आस्यं लक्ष्यते, वाचि=आस्ये।''** यहां वाक् = आस्य शब्द से मुख के अन्दर रहने वाले सभी स्थानों का भी ग्रहण जानना चाहिए। क्योंकि मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों से ही वर्ण उत्पन्न होते हैं, न कि पूरे मुख से। क्या केवल मुख (मुखीय स्थानों) से ही शब्दों का उच्चारण होता है? अथवा और भी कोई उच्चारण का साधन है? इसके उत्तर में वेद कहता है कि-**''सरस्वत्या अग्रजिह्वम्''** (यजु० २५.१)- जिह्वा शब्दोच्चारण का प्रमुख साधन है। अन्यत्र भी कहा गया है कि- **जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्** (ऋ० १०.८.६) हे ज्ञानप्रदाता परमेश्वर! आपने सत्यज्ञान, वेदज्ञान को बोलने वाली जिह्वा को बनाया है। **जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः** (ऋ० ४.५८.१)- जिह्वा विद्वानों के ज्ञानामृत का केन्द्र है, आश्रय है। जिह्वा मुख के अन्दर दान्तों के बीच में बोलने हेतु चलने के स्वभाववाली है- **जिह्वया=यथा हन्वोर्मध्ये जिह्वा विचलति, तद्वत्....(वेंकटमाधव, ऋ०१.१६८.५), जिह्वायाः=चलनस्वभावं वाग्** (वेंकटमाधव, ऋ० ३.३९.३)। **गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चे इष्यन्** (ऋ० १.६१.१२) वक्ता (गोः न) जिसप्रकार वाणी के अर्थात् शब्दोच्चारण के (पर्व) प्रत्येक वर्ण और शब्दों के मध्य में आवश्यक व नियमित व्यवधानों को (इष्यन्) ज्ञानपूर्वक व बुद्धिपूर्वक (तिरश्च) सब ओर तिरछा व अन्दर[२३] घूमने वाली जिह्वा [आदि] से नाभि से उत्थित वायु को मुख के तालु आदि स्थानों में आघात कर उच्चारण करता है। महर्षि दयानन्द कृत भावार्थ - ''जैसे प्राणवायु से तालु आदि स्थानों में जीभ का ताड़न कर भिन्न-भिन्न अक्षर वा पदों के विभाग प्रसिद्ध होते हैं (वहीं)।

इसप्रकार मुख एवं जिह्वा की सहायता से शब्दों का उच्चारण करने का विधान भी किया गया है - **स्वर=शब्दय** (सायण, वेंकटमाधव, ऋ० ९.९७.३)। इनकी सहायता से उच्चरित ध्वनिविशेषों (शब्दावयवों) के लिए वेदों में वर्णशब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उन्हीं से प्रार्थना का अनुकूल अर्थ निकलता है - **वर्णम् = वरणं प्रार्थनाम्, यथाप्रार्थितमर्थं ददातीत्यर्थः** (स्कन्दस्वामी-महेश्वर, ऋ० २.४.५, निरु० ६.१७)।

सभी भाषाओं का मूलस्रोत वेद हैं अर्थात् लोक एवं शास्त्रीय परंपरा में जो संस्कृत भाषा प्रचलित हुई वेद से ही हुई है, इसे सभी भारतीय परंपरा के विद्वान् मानते हैं। शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में जो पारिभाषिक शब्द प्रसिद्ध हुए हैं, वे भी वेद से ही लिए गये हैं। वेद और शिक्षा के क्षेत्र में उन शब्दों का अर्थ समान होने पर भी वे वेद में यौगिक हैं एवं शिक्षाशास्त्र में रूढ़ हैं। यह विशेषतया ध्यातव्य है। कुछ शब्दों का विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है -

१. स्वर - स्वरेण = उदात्तादिश्रव्यस्वरोपेतेन यद्वा मन्द्रमध्यमादिस्वरेण (सायणः, ऋ० १.६२.४, अपि च द्रष्टव्य- मुद्‌गलभाष्यम्) ।

२. व्यञ्जन- व्यञ्जनम् = विविध विज्ञानों का प्रकाश (हरिशरण विद्यालंकार, ऋ० ८.७८.२)। वेद का यह शब्द ब्राह्मणग्रन्थों के काल से वर्णविशेषों के लिए परिभाषित[२३] होकर शिक्षाशास्त्र में प्रविष्ट हो गया है, पर वही यौगिक अर्थ स्वीकारा गया है - **व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि**[२४] (उवट, ऋक्प्राति० १.६) । स्वर एवं व्यञ्जन ये दोनों ही वैदिक शब्द संहितोपनिषद्‌ब्राह्मण (२) से वर्णविशेषों के लिए रूढ़ हो गये हैं- **यथा स्वरेण सर्वाणि व्यञ्जनानि व्याप्तानि एवं सर्वान् कामान् आप्नोति ।**

अब स्वरवर्णों के धर्मों का वर्णन करते हैं -

३. मात्रा- मात्रा शब्द वेदों में 'सूक्ष्म अवयव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यथा - **मात्राभिः=सूक्ष्मावयवैः** (दयानन्द, ऋ० ३.३८.३), **शब्दादिभिः सूक्ष्मैर्व्यवहारावयवैर्वा** (दया०, ऋ० ३.४६.३) । वेद का यह शब्द तैत्तिरीय आरण्यक (ओं शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः मात्रा... ७.२.१) काल से स्वरों (अचों) के परिमापक सूक्ष्मावयव के लिए रूढ़ हो गया है ।

४. दीर्घ- वेदों में 'दीर्घ' शब्द लम्बा, बड़ा और अधिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (द्र० ऋ० १.१७३.११, अथर्व० २०.५.४, तै०सं० १.६.६.४) । वर्णमाला में प्रयुक्त दीर्घ वर्ण ह्रस्व वर्ण से दुगना बड़ा व अधिक मात्रा वाला होने के कारण 'दीर्घ' शब्द ही परिभाषित हो गया है ।[२६] गोपथ- ब्राह्मण के काल से ही यह दीर्घ शब्द वर्णविशेषों के लिए रूढ़ हो गया है- **''ओङ्कारो यजुर्वेदे दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षरः....''** (१.१.२५) ।

५-६. लघु, गुरु - गुरुर्भारो लघुर्भव (अथर्व० ९.३.२४) इस मन्त्र में 'गुरु' शब्द 'भारी या बड़ा' इस अर्थ में प्रयुक्त है और 'लघु' शब्द 'हल्का या छोटा' अर्थ में प्रयुक्त है । इसी अर्थ को लेकर शिक्षाकारों ने एकमात्रिक ह्रस्व वर्ण के लिए 'लघु' संज्ञा एवं द्विमात्रिक दीर्घ वर्ण के लिए 'गुरु' संज्ञा का प्रयोग किया है, जो कि ह्रस्व से दुगना बड़ा वा भारी ही होता है ।

अब व्यञ्जन वर्णों के धर्मों का उल्लेख करते हैं -

१. स्पृष्ट- यह शब्द वेदों (अथर्व० २.२.२, पै०सं० १.७.२) में स्पर्शार्थ में प्रयुक्त है । शिक्षाशास्त्र में 'दो उच्चारणावयवों का अल्पकालिक परस्पर स्पर्श' अर्थ में २५ स्पर्श वर्णों के अन्तःप्रयत्नविशेष के लिए रूढ़ हो गया है । गोपथब्राह्मण के काल से ही यह शब्द परिभाषित हो गया था- **''पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च, द्वितीयः स्पृष्टकरणस्थितश्च, न संयोगो विद्यते''** (गो०ब्रा० १.१.२७) ।

२. नाद- नाद शब्द वेदों (ऋ० १०.११.२, अथर्व० १९.३४.३) में ध्वनिविशेषों के लिए प्रयुक्त है । वेद के इस अर्थविशिष्ट नाद शब्द को लेकर सर्वप्रथम प्रातिशाख्यकारों **(संवृते कण्ठे नादः क्रियते- तै०प्राति० २.५ आदि)** ने ग,घ,ङ,ज आदि व्यञ्जन ध्वनियों के धर्मविशेष के रूप में परिभाषित किया है । उसके पश्चात् शिक्षाशास्त्रों में इस संज्ञा शब्द का पर्याप्त प्रचलन हुआ है।

३. घोष- घोषशब्द वेदों (ऋ० ३.३०.१६,१०.९४.१ आदि) में सर्वत्र शब्दविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है । यास्क ने भी इसे वाङ्नामों (निघण्टु- १.११) में पढ़ा है और निर्वचन किया कि- **'घोषो घुष्यतेः'** (निरुक्त- ९.९) अर्थात् विशिष्ट शब्द करना अर्थवाले **घुषिर् विशब्दने** (पाणिनीयधातुपाठ- १०.१९५) धातु से घोष शब्द बना है । सायणाचार्य ने भी घोषशब्द का अर्थ एकत्र लिखा है- **हर्षादुत्पन्नो महाध्वनिः** (ऋ० ३.३१.१०) । इसप्रकार ध्वनि विशेष के लिए प्रयुक्त वेद का यह घोष शब्द ऐतरेयारण्यक **(तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा-** २.२.४, अपि च द्र० २.२.२**)** काल से ही व्यञ्जन वर्णों के ध्वनिविशेषों के लिए परिभाषित होकर शिक्षाशास्त्र में प्रचलित हो गया है । **स्वरन्ति घोषं विततं ऋतायवः** (ऋ० ५.५४.१२) - ऋत (नित्य वाक् ,स्फोट) की कामना करने वाले पुरुष व्यापनशील घोष (अव्यक्त ध्वनि) को स्वर से युक्त करते हैं, व्यक्तवाणी के रूप में प्रकट करते हैं ।

४. यम- ऋग्वेद (१०.१०) के प्रसिद्धसूक्त 'यम-यमी' के

कारण यमशब्द युगल,जोड़ा अर्थवाला हो गया है । शिक्षाशास्त्र में भी 'पञ्चम स्पर्श वर्ण एवं अपञ्चम स्पर्शवर्णो के संयोग से उनके मध्य में उत्पन्न नासिक्यध्वनिविशेष के लिए यम शब्द परिभाषित हो गया है। यह यम शब्द संज्ञा के रूप में ऋक्प्रातिशाख्य (६.२९) काल से प्रचलित हुआ है ।

स्वर, व्यञ्जन, मात्रा आदि पारिभाषिक शब्दों का विस्तरभय से विशेष विवेचन नहीं किया गया है, केवल वेदमूलकता प्रदर्शित करना ही यहां अभिप्रेत है । शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से विशेष जानकारी के लिए लेखक द्वारा लिखित 'शिक्षाशास्त्रम्' के 'शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्'[२५] को देखें । शिक्षाशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त व विषय वेदों में किसप्रकार उपदिष्ट हुए हैं, इसका प्रतिपादन इस लेख में संक्षेप से किया गया है । इतना ही नहीं सामगान करने का विधान भी हमें वेदों में मिलता है - **साम गायत** (ऋ० ८.९८.१), **साम गायसि** (ऋ० २.४३.२), **सामभिः स्तूयमानाः** (ऋ०१.१०७.२) आदि । रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत इन सामगान विशेषों का भी नामतः उल्लेख मिलता है (यजु० १०.१०-१४ आदि)। इसी का विस्तार आगे सामवेदीय प्रातिशाख्य एवं नारदीयशिक्षा आदियों में हुआ है ।

लेख में वर्णित संकेतों से स्पष्ट है कि वेदाङ्गशिक्षाशास्त्र के सभी मूलभूत सिद्धान्त वेदमन्त्रों में सूत्ररूप से उपदिष्ट हैं। जिन्हें ऋषि - मुनियों नें स्वतन्त्रविद्या वा वेदाङ्गशास्त्र के रूप में विकसित कर मानवसमाज के समक्ष प्रस्तुत किया और वैदिक वाङ्मय की परम्परा को उपकृत किया।

सन्दर्भसूची :-

१. वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने.....यतेताध्ययनान्तगः (सुश्रुतसंहिता सूत्र० ३.५६)।

२. वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य० (म०भा० शान्ति० २८४.१९२) ।

३. यहाँ ध्यातव्य विषय यह है कि- ब्रह्म एवं शब्द में कार्य-कारण सम्बन्ध है । कार्य एवं कारण दोनों कदापि एक नहीं हो सकते अर्थात् 'शब्दब्रह्म' आदि शब्दों से शब्द को ही ब्रह्म समझने की भूल न करें । उसका अर्थ यह है कि शब्द का कारण ब्रह्म है अथवा शब्द से ब्रह्म जाना जाता है ।

४. पतति गच्छति जन्मजन्मान्तरमिति पतङ्गो जीवात्मा ।

५. मनसैव वाग्धृता (कपिष्ठलकठसंहिता ३७.४) । मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं, मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति। (ऐ०आ० ३.१.१)

६. प्राणो वै गन्धर्वः (जै०उ०ब्रा० ३.३६.३) । गाः शब्दान् धारयतीति गन्धर्वः प्राणवायुरिति सायणः (ऋ० १०.१७७.२)।

७. अनुकरणात्मक एवं उक्तार्थ के बोधक 'तां द्योतमानाम्' शब्दों के द्वारा सूचित होने से 'द्योतयति=द्योतित करता है' क्रिया का अध्याहार किया गया है ।

८. मन्त्र में बुद्धि और अग्नि के व्यापारों का उल्लेख नहीं है ।

९. 'अध्यापनेन नितरां रक्षन्ति' इति सायणः (ऋ० १०.१७७.२) ।

१०. प्रजाः संवत्सरे वाचं वदन्ति (मै० सं० ३.७.४) ।

११. वाग्घि शस्त्रम् - (ऐ० ब्रा० ३.४४) ।

१२. वाक् हृदये (प्रतिष्ठिता) (तै० ब्रा० ३.१०.८.४) ।

१३. इन्हें क्रमशः 'ऋत, सत्य, असत्य'; 'नित्य, मध्यम, अनित्य'; 'अनाहत, आहत, हत'; 'अव्यक्त, अक्षर, क्षर' के रूप में भी जान सकते हैं । परावाक् ब्राह्मीवाक् होने से आत्मीयवाक् (ऐन्द्रीवाक्) के विभागों में सम्मिलित नहीं कर सकते । इसका विवेचन पृथक् लेख में किया जायेगा ।

१४. वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते (ऐ०ब्रा० ५.१६)

१५. पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम् । तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्णेन योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः – वृत्तिः, वाक्यपदीयम्, ब्रह्म० १३३ ।

१६. मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना । सा तु सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता० । – वृत्तिः, वा०प० ब्रह्म० १३३ ।

१७. परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी । - वृत्तिः,वा०प०ब्रह्म० १३३ ।

१८. सिन्धुः स्रवणाद् (निरु० ५.२७), सिन्धुः स्यन्दनात् (निरु० ९.३६)।

१९. अर्थो नित्यः (निरु० २.१) । अर्थपरिज्ञानफला हि वाक्...सम्यग् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य, अर्थो हि वाचः शरीरम्
(उद्योत, म०भाष्यम्, पस्प०, उत त्वः.........) ।

२०. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु० (ऋ० १.१६४.४६), तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुः० (यजु० ३२.१) इत्यादि मन्त्रों से वेद स्पष्ट कह रहा है कि एक ही परमात्मा के इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नाम हैं । पर लोगों ने अनेक देवों की कल्पना की है, वह भी इन्द्र, मित्र आदि वैदिक देवों को छोड़कर पौराणिक एवं कपोल कल्पित देवों की कल्पना कर ली है । यह बुद्धिविकलता का ही दुष्परिणाम है ।

२१. जैसे आजकल भाषा के लिए 'जुबानी' (जिह्वा से बोले जानी वाली भाषा) शब्द का प्रयोग होता है ।

२२. तिरोऽन्तर्दधाति (नि० १२.३२), तिरोऽन्तर्धौ (अप्टा० १.४.७०)।

२३. मकारे व्यञ्जनमित्याहुः (गो०ब्रा०१.१.२५) । २. यथा - कूपः, यूपः, सूपः आदि ।

२४. दीर्घं द्राघतेः (निरु० २.५) ।

२५. यह ग्रन्थ 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' (रेवली, सोनीपत, हरियाणा) से प्रकाशित है।

– निगमनीडम्-वेदगुरुकुलम्,

पिडिचेड, गज्वेल, सिद्धिपेट, तेलंगाणा – ५०२२७८

वेदार्थ-ज्ञान में शिक्षा, व्याकरण एवं निरुक्त की उपयोगिता

❑ प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव...

वेदाध्ययन को नित्य कर्म मानते हुये उसके अध्ययन पर बल दिया गया है। वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति पापरहित हो जाता है तथा यज्ञानुष्ठान से प्राप्त होने वाले फल को स्वाध्यायमात्र से प्राप्त कर लेता है। यद्यपि अध्ययन अक्षर–ग्रहण तक विहित है तथापि अर्थज्ञान का अपना महत्त्व है। वैदिक–वाक्यों को उच्चरित करने वाला व्यक्ति भी वेदाध्ययन का फल प्राप्त करता है परन्तु वेदोच्चारण के साथ उसके अर्थ को जानने वाला व्यक्ति ऐहिक तथा आमुष्मिक– दोनों फलों को प्राप्त करते हुये अत्युत्तम गति को प्राप्त करता है। अतः अक्षरज्ञान के साथ वेदार्थज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महर्षि यास्क ने इस वेदार्थज्ञान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करने हेतु दो वाक्यों को निरुक्त में में उद्धृत किया है–

'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च-'

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।'

'यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।'[1]

सर्वत्र ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है–

अर्थात् जो वेद का अध्ययन करके भी उसके अर्थ से अपरिचित रहता है वह व्यक्ति स्थाणु (ठूँठ) की भाँति केवल भार वहन करता है। जो वेद के अर्थ का ज्ञान रखता है वह इस लोक में समस्त कल्याण को प्राप्त करता है। वेदार्थज्ञान से उसके पाप क्षीण हो जाते हैं और मृत्यु के अनन्तर वह स्वर्ग में जाता है।

दूसरे श्लोक का अर्थ है कि आचार्य से गृहीत जिस वेदवाक्य को अर्थज्ञान से रहित होकर पाठ के रूप में बार–बार उच्चारण करते हैं, वह कभी भी उस प्रकार ज्वलित नहीं होता, अर्थात् अपने अर्थ का प्रकाशन नहीं करता, जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में पड़ा हुआ सूखा काष्ठ ज्वलित नहीं होता।

इसी प्रकार तैत्तिरीय लोग ऐहिक और आमुष्मिक फल देने वाले मन्त्र और उसके तात्पर्य का अभिधान करने वाले ब्राह्मण–वाक्य को उद्धृत करते हुये स्पष्ट करते हैं–

तदेषाऽभ्युक्ता'-'ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति।' 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति'[2] **इति।**

तात्पर्य यह है– वेद के अर्थ को जानने वाले दो प्रकार हैं– अर्वाचीनकाल में उत्पन्न, चतुर्दश–विद्याओं में पारंगत कोई उपाध्याय और प्राचीनकाल में उत्पन्न व्यास आदि। विद्यामद, धनमद और कुलमद से भरे हुये अपने आपको पण्डित मानने वाले जो लोग इन दो प्रकार के विद्वानों में सब प्रकार से विद्या आदि के सम्बन्ध में दोष निकालते हैं, वे सब लोग पहले सूर्य में दोष देखते हैं और दूसरे, सूर्य के बाद अग्नि में दोष निकालते हैं और इन दोनों के बाद तीसरे हंस अर्थात् वायु में दोष देखते हैं। ये विद्वान् अपने ज्ञान के कारण अग्नि आदि रूप में हो जाते हैं। वेदविद् लोग स्वयं कहते हैं–

'अग्नेर्वायरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति'[3] न केवल ये तीन देवता ही, बल्कि समस्त देवता

वेदविद् विद्वानों में निवास करते हैं। तात्पर्य यह है कि वेदार्थ को जानने वाले ब्राह्मण विभिन्न देवताओं के मन्त्रों के अर्थ में उन–उन देवताओं को स्मरण करते हुये अपने हृदय में अवस्थित रखते हैं।

अतः वेद को जानने वाले ब्राह्मणों को देखकर अथवा स्मरण करके प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिये। इस प्रकार उन ब्राह्मणों को नमन करने वाला व्यक्ति उनके हृदय में अवस्थित उन समस्त देवताओं को सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार देवताओं की भावना द्वारा प्राणियों से पूज्य वह वेदार्थविद् ब्राह्मण उभय लोकों में श्रेय को प्राप्त करता है।

वेदार्थज्ञान इसलिये भी आवश्यक है कि अर्थरहित वाक्य का वेदत्व ही नहीं बनेगा, क्योंकि 'वेद' शब्द का निर्वचन ही है कि– अलौकिक पुरुषार्थ के उपाय को जिससे जाना जाता है उसे वेद कहते हैं–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता, उसे विद्वान् लोग वेद के द्वारा जान जाते हैं, यही वास्तव में वेद का वेदत्व है। अतः मुख्यरूप से वेदत्व की सिद्धि के लिये उसके अर्थ को जानना ही चाहिये।

और भी, निरुक्त में यास्क ने वेदार्थज्ञान की प्रशंसा में ऋचा उद्धृत की है–

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा।।[४]

अर्थात् जो व्यक्ति वेदार्थ को नहीं जानता वह वेदरूप वाणी को देखता हुआ भी सम्यक् प्रकार से नहीं देखता, वेदरूप वाणी को सुनता हुआ भी सम्यक् प्रकार से नहीं सुनता है, और जो व्यक्ति वेदार्थ को जान जाता है उसके समक्ष वेद अपने स्वरूप को फैला देता है पत्नी जिस प्रकार पति के समक्ष उद्घाटित करती है अर्थात् वह वेद के अर्थ–प्रकाशन में समर्थ सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

यास्क ने दूसरी ऋक् को उद्धृत करते हुये कहा है कि यह ऋचा भी उसी अर्थ के अधिक व्याख्यान के लिये है– **'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय'**[५]। ऋचा इस प्रकार है–

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ
अफलामपुष्पाम्।।[६]

अर्थात् एक (वेदार्थज्ञान वाले) को मित्रता में स्थिरतापूर्वक पान करने वाला कहते हैं। शास्त्रार्थ में उसकी प्रतिस्पर्धा कोई नहीं कर सकता। अर्थ को न जानने वाला फल तथा पुष्प से रहित वाणी को सुनता हुआ दुग्ध न देने वाली गो के सदृश वाणी के भ्रममात्र के साथ घूमता है। इस प्रकार आचार्य यास्क ने ज्ञान की स्तुति और अज्ञान की निन्दा को व्यक्त किया है।

इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'नक्षत्रेष्टिकाण्ड' में प्रत्येक इष्टि का फलवाक्य याग और उसके ज्ञान के रूप में पठित है–

यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नद एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद।[७]

अर्थात् जिस प्रकार देवताओं में अग्नि अन्न को खाने वाला है, उसी प्रकार वह वेदज्ञ मनुष्यों में समर्थ होता है जो हवि से यजन करता है अथवा जो यज्ञ को इस प्रकार जानता है। इस प्रकार ब्राह्मणवाक्य यज्ञ के अनुष्ठान की भांति यज्ञ के अर्थज्ञान का भी (फल के लिये) विधान करता है।

यह शंका ठीक नहीं कि अर्थज्ञान मात्र से फल–सिद्धि हो जाने पर अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि फल कर्म की निष्पत्ति से सम्बन्धित होता है। लोक की भांति वेद में भी परिमाण अथवा सार से फल में विशेषता आ जाती है– **'कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोककवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्'**। जिस प्रकार लोक में कम पैसे से कम अच्छा वस्त्र मिलता है और अधिक पैसे से

अधिक अच्छा वस्त्र मिलता है उसी प्रकार वेद में भी यदि ब्रह्महत्या वाचिक है तो अश्वमेधज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है और कायिक है तो यज्ञ के अनुष्ठान से मुक्ति होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कथन है कि केवल अनुष्ठान से जो फल प्राप्त होता है उससे अधिक फल विद्यासहित अर्थात् अर्थज्ञान युक्त अनुष्ठान से होता है— **'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'**।[८]

अर्थात् दो प्रकार के लोग हैं— एक जिन्हें वेदार्थ का ज्ञान है और दूसरे वे— जिन्हें वेदार्थ ज्ञान नहीं है, वे दोनों यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। विद्या और अविद्या नाना प्रकार की है। जो अनुष्ठान विद्या से अर्थज्ञानपूर्वक श्रद्धा एवं तत्त्वज्ञानपूर्वक किया जाता है वह वीर्यवत्तर अर्थात् अधिक बल वाला होता है।

इस वेद के अर्थज्ञान से उत्पन्न अपूर्व या संस्कार उसी प्रकार जीव के साथ ऊर्ध्वलोक में जाता है जैसे कि किसी कर्म या अनुष्ठान से उत्पन्न अपूर्व मृत्यु के बाद जीव के साथ जाता है। जैसा कि वाजसनेयी जन कहते हैं कि परलोक में गमन करते हुये उस आत्मा का विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं— वेदार्थावबोध में वेदांगों की महनीय भूमिका है। यद्यपि वेदार्थज्ञान हेतु छः वेदांग अत्यावश्यक है किन्तु उसमें भी शिक्षा, व्याकरण एवं निरुक्त प्रत्यक्ष सम्बन्धित हैं।

'वेदांग का अर्थ है **'वेदस्य अंगानि।'** अंग का अर्थ है— **'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि'** अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है, 'अंग कहलाते हैं। वेदांगों के द्वारा वेद मंत्रों का अर्थ, उनकी व्याख्या एवं यज्ञीय कर्मकाण्ड में उनके विनियोग का बोध होता है। ये छः हैं— (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्दः और (६) ज्योतिष्।

शिक्षा

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा।'

अर्थात् जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान को शिक्षा कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बल, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः'[९] अर्थात् वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान को शिक्षा कहते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि शिक्षा वेदाङ्ग में मन्त्रों के उच्चारण—सम्बन्धी विषयों का विवेचन होता है। वर्ण, स्वर आदि का स्वरूप इस प्रकार है—

o.k& अ, इ, उ आदि।

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा।।[१०]

इस प्रकार आचार्य पाणिनि ने ६३ या ६४ वर्ण स्वीकार किये हैं— २१ स्वर वर्ण, २५ स्पर्शवर्ण, ४ अन्तःस्था, ४ ऊष्म, ४ यम, अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, ळकार = ६३ वर्ण। प्लुत लृकार का ग्रहण करने पर यह संख्या ६४ हो जाती है।

Loj& **उदात्ताश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।**[११] उदात्त, अनुदात्त और स्वरित— ये तीन स्वर हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

(१) उदात्त— **उच्चैरुदात्तः।** [१२]

कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के भाग से ऊर्ध्वचरित स्वर उदात्त होता है।

(२) अनुदात्त— **नीचैरनुदात्तः।**[१३]

कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के निम्न भाग से उच्चरित स्वर को अनुदात्त कहते हैं।

(३) स्वरित— **समाहारः स्वरितः।**[१४]

उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का मेल जिस स्वर में हो वह स्वरित कहलाता है।

ek«kk& **'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति काल नियमा अचि।'**[१५]

ह्रस्व की १ मात्रा, दीर्घ की २ मात्रा और प्लुत की ३ मात्रा होती है। ये तीन मात्रायें काल के नियम के अनुसार अच् (स्वर वर्णों) में होती है।

cYk& बल का तात्पर्य है, वर्णों का उच्चारण स्थान और प्रयत्न। **'बलं स्थानप्रयत्नः'** स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्णों का उच्चारण किया जाता है। LFkku& ^v"V© LFkkukfu o.kkZuke*[१६] (वर्णों के आठ उच्चारण स्थान हैं), प्रयत्न– **'आभ्यन्तरो बाह्यश्च।'** प्रयत्न मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं– आभ्यन्तर और बाह्य। अर्थात् वर्णों के उच्चारण स्थान ८ हैं तथा प्रयत्न के दो भेद हैं आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न में अच् के प्रयत्न अस्पृष्ट होते हैं और यण् के प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होते हैं– **'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्'**[१७] बाह्य–प्रयत्न एकादश होते हैं– श्वास, नाद, घोष, अघोष, विवार, संवार, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित।

साम– साम्य। अतिद्रुत, अतिविलम्बित तथा गीति आदि दोषों से रहित और माधुर्य आदि गुणों से युक्त उच्चारण को साम कहते हैं।

'गीती शीघ्री शिरः कम्पी'[१८] एवं **'उपांशु दष्टं त्वरितं'**[१९] द्वारा उच्चारण के दोषों को बतलाया गया है। इन दोषों से रहित उच्चारण करना चाहिये।

'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः'[२०] इत्यादि द्वारा उच्चारण के गुणों को बताया गया है। इन गुणों से युक्त उच्चारण करना चाहिये।

संतान (संहिता)– संधि के नियमों के अनुसार उच्चारण। यथा– 'वायवायाहि (वायो आयाहि)'– यहाँ अवादेश हुआ है। 'इन्द्राग्नी आगतम्'– यहाँ प्रकृतिभाव है।

प्रयोजन (महत्त्व)– वेद के पाठ में उच्चारण के महत्त्व को स्वीकार करके ही शिक्षा वेदांग का आविर्भाव हुआ है। शिक्षा–ग्रन्थों में भी वेदपाठ के उच्चारण की शुद्धता के महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[२१]

यथा– **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'**[२२] इस मन्त्र में स्वर के अशुद्ध उच्चारण के अपराध से इन्द्रशत्रु (वृत्र) मारा गया। 'इन्द्रशत्रुः' पद का उच्चारण अन्तोदात्त करना चाहिये था किन्तु ऋत्विजों ने त्रुटिवश आद्युदात्त उच्चारण कर दिया। ऐसा न हो अतः शिक्षा–वेदांग का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। इसीलिये शिक्षा–वेदांग को वेदपुरुष का घ्राण कहा गया है– **'शिक्षा प्राणं तु वेदस्य'**[२३] अशुद्धोच्चारण से अर्थपरिवर्तन या अर्थविकृत हो जायेगा जो वेदार्थावबोध को अवरुद्ध करेगा अतः वेदार्थज्ञान में शिक्षा वेदांग की आवश्यकता सुतरां स्पष्ट है।

व्याकरण

प्रकृति, प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और अर्थ के निश्चय के लिए व्याकरण का उपयोग है। जैसा कि 'ऐन्द्रवायवग्रह ब्राह्मण' में कहा गया है–

'वाग्वै पराच्यव्या तावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सो ब्रवीत् वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मात् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रु मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते'।[२४]

अर्थात् **'अग्निमीळे पुरोहितम्'** इत्यादि वाक् प्राचीनकाल में समुद्र आदि की ध्वनि की भाँति एकरूप होने के कारण अव्याकृत रही। तब ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं था जिसमें प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य का विभाग किया गया हो। उस समय देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की। तब इन्द्र, एक ही पात्र में वायु के और अपने लिए सोमरस के ग्रहणरूप वर से प्रसन्न हो गये और उस अखण्ड वाणी को बीच–बीच में विच्छेद करके प्रकृति–प्रत्यय आदि के रूप में सर्वत्र विभक्त कर दिया। उससे यह वाणी आज भी पाणिनि आदि महर्षियों द्वारा प्रकृति प्रत्ययों में विभक्त या व्याकृत हुयी और लोग उसे पढ़ने लगे।

वररुचि (कात्यायन) ने उस व्याकरण के प्रयोजन को अपने वार्तिक ग्रन्थ में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है– **'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्'** अर्थात् वेद की रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह व्याकरणशास्त्र के प्रयोजन हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने रक्षा आदि प्रयोजनों को तथा अन्य गौण प्रयोजनों को भी बतलाया है। वेदों की रक्षा करने के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये क्योंकि जो व्यक्ति लोप, आगम, वर्णविकार आदि को जानने वाला है वही व्यक्ति सम्यक् प्रकार से वेदों का परिपालन करेगा और वेद के अर्थ को समझ सकता है। इसी प्रकार ऊह या तर्क भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है। वेद में समस्त लिंगो और समस्त विभक्तियों सहित वेद–मन्त्रों का उल्लेख नहीं हुआ है। जो व्यक्ति अवैयाकरण है अर्थात् व्याकरणशास्त्र को नहीं जानता वह लिंगो और विभक्तियों को यथाप्रसंग बदल नहीं सकता। अतः ऊह के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। इसी प्रकार आगम अर्थात् वेद भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजक है– **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' षट्सु अंगेषु प्रधानं व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति**[२५] अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि वह बिना किसी दृष्टकारण की प्रतीक्षा किये धर्म की भावना से सहित वेद का अध्ययन षडंग और अर्थज्ञान पूर्वक करे। वेद के छः अंगो में व्याकरण ही प्रधान (मुखस्थानीय) माना जाता है। इस प्रकार गौण की अपेक्षा प्रधान में किया गया यत्न फलित होता है। अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये। लघ्वर्थ के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये क्योंकि व्याकरण से सूत्रों के द्वारा अल्प में ही बहुत से शब्दों के नियम अवगत हो जाते हैं। व्याकरण के इस महत्त्व पर एक कथा महाभाष्य के प्रथम आह्निक 'पशपश' में प्राप्त होती है–

सहस्र 'देवों के गुरु बृहस्पति ने एक दिव्य वर्षों तक प्रतिपदकथित (एक–एक पद को उच्चारण करते हुये) शब्दों का पारायण इन्द्र को सुनाया किन्तु समाप्ति तक नहीं पहुँच सके। देवगुरु बृहस्पति जैसा वक्ता और सुरपति इन्द्र जैसे अध्येता, अध्ययन का समय दिव्य एक सहस्र वर्ष, तब भी अध्ययन पूर्ण न हो सका।' आज तो यदि कोई बहुत दीर्घ आयु वाला होता है तो सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है। आज यदि प्रतिपद को कोई पाठ करे तो कैसे समग्र पदों को समझ सकता है। इन पदों के प्रयोग की तो बात ही दूर है। ऐसा प्रचलित है कि आधी मात्रा के लाघव को भी वैयाकरण पुत्रोत्सव के समान मानते हैं– **अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।**

इसी प्रकार सन्देह उत्पन्न न हो इसके लिए (असन्देहार्थ) व्याकरण पढ़ना चाहिये। जैसा कि याज्ञिक लोग पढ़ते हैं– **'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-मनड्वाहीमालभेत'** अर्थात् स्थूल चिह्नमूल बिन्दुओं (छींटे) वाली गौ का आलंभन करे। यहाँ बहुव्रीहि समास (स्थूलानि् पृषन्ति यस्याः सा) होगा अथवा कर्मधारय (स्थूला चासौ पृषती)। जो व्याकरण नहीं होगा वह स्वर को सुनकर निर्णय नहीं कर सकेगा और जो व्याकरण पढ़ा है, वह जानता है कि कर्मधारय (तत्पुरुष) वहाँ होता है, जहाँ उदात्त स्वर समासान्त में हो और बहुव्रीहि में उदात्त पूर्वपद में होता है।

शब्दानुशासन (व्याकरणशास्त्र) के अन्य आनुषगिंक प्रयोजन भी हैं, उनका निर्देश करते हैं– **तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण।** इन प्रयोजनों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

असुरों के पराजित होने का कारण यह हुआ है कि– **'हे अरयोऽरयः'** इस प्रकार पदमात्र का द्वित्व तथा प्रकृतिभाव उच्चारण न करके उन्होंने 'हेलयो हेलय'' इस प्रकार वाक्य का द्वित्व, पूर्वरूप और 'र' का 'ल' उच्चारण कर डाला। इसलिये ब्राह्मण को म्लेच्छ शब्द (अपशब्द) का उच्चारण

नहीं करना चाहिये। व्याकरण का अध्ययन करने वाला म्लेच्छ होने से बच जाता है, अतः उसका अध्ययन करना चाहिये।

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात।।'[२६]

स्वर अथवा वर्ण के मिथ्या (अशुद्ध) प्रकार के प्रयोग से दुष्ट (दोषयुक्त) शब्द अपने अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाता है। वह वाग्वज्र होकर यजमान को मार डालता है। जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' यह मन्त्र वाग्वज्र होकर घातक सिद्ध हुआ। हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।'

अर्थात् आचार्य से अधीत जिस वेदवाक्य का अर्थज्ञान से रहित होकर पाठ के रूप में बार–बार उच्चारण करते हैं। कभी भी वह उसी प्रकार ज्वलित अर्थात् अपने अर्थ का प्रकाशन नहीं करता जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में पड़ा हुआ शुष्क काष्ठ ज्वलित नहीं होता। हम अज्ञात अर्थ वाले वाक्य का अध्ययन न करें इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकालो। सोऽनन्तमाप्नुति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।।

अर्थात् जो कुशल व्यक्ति विशेष व्यवहार के अवसर पर यथावत् (ठीक–ठीक) शब्दों का प्रयोग (सूत्रों, नियमों का स्मरण करते हुये) करता है, वह अत्यन्त विजय को प्राप्त करता है और वाणी के परस्पर योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है।

शंका होती है कि जो वाग्योग्विद् होता है, वह शब्दों के साथ अपशब्दों का ज्ञान रखने से अधर्म का भी भागी होता है। क्योंकि अपशब्दों की संख्या शब्दों की अपेक्षा बहुत अधिक है। एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रंश हो जाते हैं। उदाहरणार्थ गो शब्द के अपभ्रंश गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अनेक हैं। जो व्यक्ति वाणी के परस्पर योग से अपरिचित है, उसका अज्ञान उसे पाप से बचा सकता है। इसका समाधान यह है कि अज्ञान निश्चय ही शरण नहीं हो सकता। क्योंकि पतित तो वह भी हो जाता है जो अनजाने में ब्रह्महत्या कर डालता है अथवा सुरापन कर लेता है। इसलिये अपशब्दों के प्रयोग का दोष वाणी के योग को न जाने वाले व्यक्ति को ही लगता है। जो वाग्योगविद् या वैयाकरण है उसे अपशब्दों के ज्ञान से जो अधर्म होता है, उसकी अपेक्षा शब्दों के ज्ञान से अधिक धर्म होता है। अतः धर्म के अधिक होने के लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।

जो व्याकरण को न जानने वाले अविद्वान् व्यक्ति अभिवादन के पश्चात् दिये जाने वाले आशीर्वाद के वाक्य में अभिवादन को प्लुत करके बोलना नहीं जानते उनका वह आशीर्वादवाक्य वैसा ही है जैसे प्रवास से लौटा हुआ कोई अपनी माता आदि पूज्य स्त्रियों के समक्ष 'अयमहम्' (यह मैं हूँ) इस प्रकार कह देता है।

इस प्रकार स्त्रियों की भाँति अभिवादन द्वारा किये गये अपमान का दुःख हमें न प्राप्त हो अतः व्याकरण पढ़ना चाहिये।

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं– **'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः'** अर्थात् प्रकृतियाग में प्रयाजमन्त्रों को विभक्तियों से युक्त करना चाहिये। बिना व्याकरण के ज्ञान के प्रयाजमन्त्रों का विभक्तिसहित पाठ नहीं किया जा सकता। अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

'यो वा इमाम् पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति' अर्थात् जो व्यक्ति इस वाणी को पद, स्वर, अक्षर और वर्ण से ठीक–ठीक उच्चारण करता है वह 'आर्त्विजीन'

अर्थात् ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी होता है। हम आर्त्विजीन हों, अतः व्याकरण को पढ़ना चाहिये।

'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।'[२७]

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात– शब्दरूप वृषभ के ये चार सींग हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य– ये तीन काल पैर हैं। सुप् और तिङ्– ये दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ–सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर– इन तीनों स्थानों में बँधा हुआ है। इस प्रकार कर्मों का वर्णन करने वाला (शब्द करने वाला) महान् देव शब्दरूप (वृषभ) मनुष्य में निवास करता है। उस महान् शब्दरूप देव के साथ हमारा तादात्म्य हो, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।'[२८]

वाणी अपने चार पदों में परिमित है। इसे मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। निर्दिष्ट चारों पदों में वाणी के तीन रूप परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा में निहित रहने के कारण चेष्टारहित हैं अर्थात् उन्हें अवैयाकरण नहीं जानता। मनुष्य (व्याकरण न जानने वाले) लोग चौथी वाणी (बैखरी) को ही बोलते हें। हम वाणी के सभी रूपों को जानें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है–

'उतः त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।।'[२९]

इस वाणी को एक (अविद्वान्) देखता हुआ भी नहीं देखता और एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता और दूसरे (विद्वान्) के समक्ष पत्नी के समान वह अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पति को चाहती हुयी सुन्दर वस्त्र धारण की हुयी पत्नी अपने आपको विर्वस्त्र कर देती है। उसी प्रकार वाणी विद्वान् पुरुष के सामने अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देती है, उससे कुछ छिपाकर नहीं रखती। वाणी अपने को हमारे सामने व्याकृत कर दे, अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमंक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिता धि वाचि।।[३०]

अर्थात् धीर लोग अपने प्रज्ञान (मन) के द्वारा उसी प्रकार वाणी को अपशब्दों से रहित कर देते हैं जिस प्रकार चलनी से चाल कर सत्तू को शुद्ध कर दिया जाता है। सखिभाव से ये लोग सायुज्य को जानते हैं अर्थात् शब्दब्रह्ममय जगत् को एक भाव से जान लेते हैं। निर्विकल्पक ज्ञानरूप एक ही मार्ग से गम्य वह दुर्गम मार्ग वाणी का विषय होता है। वैयाकरण उसे जानते हैं। उनकी वाणी में भद्रा लक्ष्मी निहित होती है अर्थात् वे ही वेदाख्य ब्रह्म का ज्ञान करके परमार्थतत्त्व को जानते हैं।

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं कि– **'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुंज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्'**– अर्थात् आहिताग्नि अपशब्द का प्रयोग कर दे तो वह प्रायश्चित्त के लिये सारस्वती इष्टि करे। व्याकरण जानने वाला अपशब्द का प्रयोग नहीं करता। अतः उसे प्रायश्चित्त करना नहीं पड़ता। हम प्रायश्चित्त के भागी न हों अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

दशम्यां पुत्रस्य–

पुत्र उत्पन्न होने के दस दिन बाद पुत्र का नामकरण संस्कार करें। नाम का प्रथम अक्षर घोष होना चाहिये, बीच का अन्तःस्थ तथा अन्त में विसर्ग होना चाहिये। नाम को तद्धितान्त न करें बल्कि कृदन्त करें। इस नियम के अनुसार बिना व्याकरण के ज्ञान के कृदन्त और तद्धितान्त का भेदज्ञान नहीं होगा, अतः कृदन्त आदि के ज्ञान के लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।।'[३१]

अर्थात् हे वरुण! (वैयाकरण) तुम शोभन देवता हो। जिस तुम्हारे काकुद अर्थात् तालु पर सात सिन्धु (सात विभक्तियाँ) उसी प्रकार बहती है, जिस प्रकार अग्नि लोहे की खोखली प्रतिमा के अन्दर प्रविष्ट होकर जलती है। विभक्तियों के सुन्दर उच्चारण से हम 'सुदेव' बनें अतः व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

इसी तरह अन्य भी व्याकरण–प्रयोजन वार्तिक द्वारा महाभाष्य में निर्दिष्ट किये गये हैं यथा– **'सिद्धेशब्दार्थ सम्बन्धे'**। ये सभी प्रयोजन इस प्रसंग में विचारणीय हैं। अतः स्पष्ट है कि वेदार्थ–ज्ञान एवं वेद–रक्षा के लिये व्याकरण का ज्ञान अत्यावश्यक है।

निरुक्त–

'निरुक्त' नामक वेदांग का आधार निघण्टु नाम का वैदिक शब्दकोश है। वेदों में से कठिन शब्दों को निकाल कर इन्हें निघण्टु में संकलित किया गया था। निघण्टु में संकलित उन्हीं शब्दों का निर्वचन आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में किया है। इस प्रकार निघण्टु वैदिक शब्दकोश है और उस शब्द–कोश का भाष्य निरुक्त है। मन्त्रों का अर्थ जानने के लिये निरुक्त बहुत ही उपयोगी है। **'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।'**[३२]

अर्थज्ञान के विषय में जहाँ स्वतंत्र रूप से पदसमूह को आम्नात किया गया है वह निरुक्त (निघण्टु) है। अर्थज्ञान के लिए अन्य व्याकरणादि शास्त्र की अपेक्षा न करते हुये पदसमूह जहाँ अभिहित किया गया है उसको निघण्टु कहते हैं। सायणाचार्य ने निघण्टु और निरुक्त दोनों के लिये निरुक्त शब्द का ही प्रयोग किया है।

Áfrfuf/kx\Fk& निघण्टु– 'निघण्टु शब्द से उस ग्रन्थ विशेष को कहा जाता है जिसमें एकार्थवाची पर्याय शब्दों का प्रायः ग्रन्थन हो'–

'एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संघो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः।'

निघण्टु वैदिक शब्दकोश है। इसमें पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय–नैघण्टुक काण्ड है। चतुर्थ अध्याय–नैगम काण्ड है। पंचम अध्याय–दैवत काण्ड है।

निरुक्त का प्रयोजन– पाँच अध्यायों और तीन काण्डों में विभक्त इस निघण्टु ग्रन्थ में दूसरे व्याकरण आदि की अपेक्षा न करके पदों का अर्थ उक्त होने के कारण इसको निरुक्त (निघण्टु) कहा गया है–

पंचाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे पदनिरपेक्षतया पदजातस्य उक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्।

यास्काचार्य रचित निरुक्त निघण्टु की टीका है। इसका प्रधान लक्ष्य है–निर्वचन के द्वारा वेदार्थ–ज्ञान। एक–एक पद के सम्भावित अवयवार्थों को निःशेषरूप से वहाँ कह दिया गया है। यही 'निरुक्त' का विवेचन है–

एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः।'[३३]

इसमें कुल चौदह अध्याय हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट रूप में है। यह तीन काण्डों में विभक्त है–

(क) नैघण्टुक–काण्ड– (प्रथम तीन अध्याय) 'गौः' से लेकर 'अपारे' तक नैघण्टुक काण्ड है।एकार्थवाची पर्यायशब्दों का संकलन इस काण्ड में किया गया है।

(ख) नैगम–काण्ड– (चार से सात अध्याय तक चार अध्याय) 'जहाँ' से लेकर 'उल्बम् ऋबीषम्' पर्यन्त नैगम काण्ड है। निगम शब्द वेदवाची है। वेद में आये अनेक अर्थवाले एक शब्दों को यहाँ संकलित किया गया है।

(ग) दैवत–काण्ड– (आठ से बारह अध्याय तक के पाँच अध्याय) 'अग्नि' से लेकर 'देवपत्नी' पर्यन्त दैवत काण्ड कहलाता है।

दैवत–काण्ड में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकस्थानीय देवताओं का वर्णन है। इस प्रकार 'गौः' से लेकर 'देवपत्नी' पर्यन्त पदों को समाम्नाय कहा जाता है।

निरुक्त में पद की चार जातियाँ बतायी गयी हैं– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। निपात का स्वरूप बताते हुये कहते हैं कि ये ऊँचे–नीचे अर्थों में आते हैं– **'उच्चावचेषु अर्थेषु निपन्तीति'** अर्थात् निपात का प्रयोग अनेकविध अर्थों में किया जाता है। 'न' इस निपात का उदाहरण देते हैं– 'नेन्द्रं देवममंसत' यहाँ न प्रतिषेधार्थक है जैसा कि लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग होता है। किन्तु वेद में निषेध के साथ–साथ उपमा के अर्थ में भी 'न' का प्रयोग प्राप्त होता है जैसे– **'दुर्मदासो न सुरायाम्'** इसमें न उपमार्थीय है।

निरुक्तकार स्थान–स्थान पर अपने द्वारा उक्त निर्वचन के आधारभूत ब्राह्मणों को भी उद्धृत करते हैं। कुछ निर्वचन तो व्याकरण के अनुसार भी सिद्ध हो जाते हैं किन्तु सभी निर्वचनों की सिद्धि व्याकरण के बल पर सम्भव नहीं। अतएव निरुक्तकार का कहना है–

'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च'[३४]

अर्थात् यह निरुक्त नामक विद्यास्थान आचार्य पाणिनि आदि द्वारा प्रणीत व्याकरण की पूर्ति करने वाला है और साथ ही अपने अर्थ का साधक भी है। इसलिये वेद के अर्थज्ञान के लिये निरुक्त उपयोगी है। आज इसी यास्ककृत 'निरुक्त' को ही वेदांगरूप में स्वीकार किया जाता है।

इस क्रम में ध्यातव्य है कि वेदार्थज्ञान के लिये शिक्षा, व्याकरण एवं निरुक्त वेदांगत्रय प्रत्यक्ष रूप से सहायक हैं क्योंकि इनमें किया गया स्खलन सद्यः वेदार्थावबोध को बाधित कर देगा। वेद सदा से अल्पधी मनुष्यों से होने वाले प्रमाद से भयभीत रहता है–

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।[३६]

अतः वेदध्यायी को षडंग के अध्ययन पर विशेष बल देना चाहिये।

सन्दर्भ-सूची :-

१. निरुक्त (१/१८)
२. तैत्तिरीय आरण्यक २/१५
३. तैत्तिरीय आरण्यक २/१५
४. ऋग्वेदसंहिता १०/७१/४
५. निरुक्त १/२०
६. ऋग्वेदसंहिता १०/७१/५
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१/४/१
८. छान्दोग्य–उपनिषद् १/१/१०
६. तैत्तिरीय–उपनिषद् १/१
१०. पाणिनीयशिक्षा ३
११. पाणिनीयशिक्षा ११
१२. पा० १/२/२६
१३. पा० १/२/३०
१४. पा० १/२/३१
१५. पाणिनीयशिक्षा १
१६. पाणिनीय शिक्षा १३
१७. पाणिनीयशिक्षा ३८
१८. पाणिनीयशिक्षा ३२
१६. पाणिनीयशिक्षा ३५
२०. पाणिनीयशिक्षा ३३
२१. पाणिनीयषिक्षा ११
२२. तैत्तिरीयसंहिता २/४/१२/१
२३. पाणिनीयशिक्षा ४२
२४. तैत्तिरीयसंहिता ६/४/७/३
२५. महाभाश्य (पष्पषाह्निकम्)
२६. पाणिनीयषिक्षा ५२
२७. ऋग्वेद–संहिता ४/५८/३
२८. ऋग्वेद–संहिता १/१६४/४५
२६. ऋग्वेद–संहिता १०/७१/४
३०. ऋग्वेद–संहिता १०/७१/२
३१. ऋग्वेद–संहिता ८/६६/१२
३२. ऋग्वेदभाष्यभूमिका
३३. ऋग्वेदभाष्यभूमिका
३४. निरुक्त १/१५
३५. महाभारत १/२६०

– विभागाध्यक्ष
संस्कृत-विभाग, कला संकाय,
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

छन्दसां प्रयोगस्य व्यवहारिकविचारः

❑ डॉ. निरञ्जनमिश्रः (साहित्याकादमीपुरस्कृतः)...✍

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति जानन्त्येव सर्वे। अर्थात् समस्तानां धर्माणां मूलं वेद एवास्तीति नान्यत् किमपि। यतोहि वेदो नाम न केवलं कृष्णवर्णलेपनाङ्कितकर्गजानां पुञ्जमपितु वेदो नाम ज्ञानम्। समस्तप्राणिनां चेतसि तदनुकूलज्ञानं जन्मत एव भवति। यथा प्राणवायोस्संचारं विना जीवनं जीवनं नास्ति तथैव ज्ञानं विना कुत्रापि किमपि नास्ति। सन्मार्गगन्तारो भवन्तु वाऽसन्मार्गसेविनो भवन्तु। ज्ञानस्यावश्यकता समेषां समानरूपेण वर्तते। ज्ञानस्य विषये जातौ वा पार्थक्यं भवति परन्तु ज्ञानमित्यत्र नास्ति पार्थक्यम्। उक्तञ्चापि –

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।
विषयश्च महाभाग! जाति चैवं पृथक् पृथक्।। [१]

विचारणीयोऽयं विषयो भवति यत् तस्य ज्ञानं यदि समेषामस्त्येव तर्हि पुनस्तद्विषये परिदेवना कथम्? तत्र विचार्यते यत् मार्गस्तु कुमार्गोऽपि भवति सन्मार्गोऽपि। उभयोर्मध्ये कस्मिन् प्रवृत्तिः स्यात् कस्माच्च निवृत्तिः स्यादिति स्वयमेव चिन्तनीयं भवति विद्वद्वरैः। अर्थात् ज्ञानं तु विधिना प्रदत्तं परन्तु तदुपयोगप्रक्रिया स्वयमेव चेतव्या वर्तते। अखिलब्रह्माण्डकल्याणकामना वर्तते यस्मिन् मार्गे स सन्मार्गः, तदितरः कुमार्गः। सामान्यभाषायामुच्यते चेत् लोककल्याणमार्गः सन्मार्गः, तदितरः कुमार्गः। अयमेव चेतव्यः। '**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनमिति**' वाक्यमपि तदेव बोधयति।

यथा शब्दार्थमयस्य काव्यस्य शरीरचिन्तनमात्मचिन्तनं च पृथक् पृथक् वर्तते तथैवास्य ज्ञानस्वरूपस्य वेदपुरुषस्य शरीरचिन्तने षडङ्गानि निरूपितानि सन्त्याचार्यैः। तत्र–

छन्दः पादौ तु वेदस्य.........(पाणिनीय शिक्षा)

वेदस्याध्ययनार्थमादिशद्भिराचार्यैरुक्तं यत् –षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। अर्थात् वेदाङ्गानां सम्यगध्ययनाभावात् वेदाध्ययनं सुकरं नास्ति समुचितं चापि नास्ति। यतो ह्यङ्गज्ञानं विना पुरुषपरिज्ञानं कथं स्यात्? एतान्यङ्गानि वेदाध्ययने सहायकतामाचरन्ति। साङ्गं यदा वेदस्याध्ययनं भवति तदैव वास्तविकतत्त्वानामवगमनं भवितुमर्हति। वेदः (ज्ञानम्)स्वाङ्गगुणेन विस्तारं याति। अतएव कविवरश्रीहर्षो लिखति यत् –

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।[२]

अस्य पादौ भवति छन्दः। यथा मुखं विना भाषणं न भवितुमर्हति तथैव पादयोर्विना गमनं न भवितुमर्हति। अतो यदि गमनं वाञ्छितं स्यात् तर्हि पादयोः स्वास्थ्यं परमावश्यकमस्तीति।

छन्दो नाम सामान्यतया वक्तुं शक्यते यद् वर्णानां नियतयोगव्यवस्था। अर्थात् यदा पदानि नियतव्यवस्थायां योजितं भवति तदा छन्दो भवति। अनियतावस्थायां तदेव गद्यम् इत्यभिधीयते। 'वृत्तविहीनं गद्यमिति सामान्यलक्षणं गद्यस्य। एतेन स्वयमेव निश्चितं यत् छन्दोबद्धता भवति पद्यस्य। गद्यापेक्षया पद्यं रमणीयं भवतीति। सुलभं भवति, सुकरं भवतीत्यत्र नास्ति सन्देहावसरः। छन्दोबद्धतया पद्ये लयबद्धता आयाति। लयबद्धतायामास्वादो वर्धते इत्यपि सर्वजनज्ञातविषयः। यावत् लिखितपद्यं कर्गजे भवति तावत् सहृदयानां चेतसि न विशति परन्तु यदा संगीतज्ञप्रयासात् स्वरबन्धनेन निबद्धो भवति। लयतालमाश्रित्य कस्यचित् गायकस्य कण्ठदेशान्निस्सरति तदेव पद्यं तदा सहृदयानां परमाह्लादकारि भवति। अतएव गेयतायाः आधारभूततत्त्वमस्ति छन्दोबद्धता। यद्यपि संगीतज्ञाः

स्वप्रयासेन छन्दोविहीनानामपि पदानां स्वरनियोजनं कर्तुमर्हन्ति कुर्वन्ति च। तथापि छन्दोबद्धपदानां गाने या सुगमता या हृदयस्पर्शिता भवति सा नान्यत्र। बालका अपि छन्दोबद्धपदानामभ्यासे पटवो भवन्ति। सहातया तथ्यग्रहणे दक्षा भवन्ति।

अथ च वेदे स्वरस्य महत्वं सर्वोपरि भवतीत्यपि नाविदितं विपश्चिताम्। तदर्थं छन्दोबद्धता परमावश्यकी। अतएव सामवेदस्य ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य अथर्ववेदस्य वा गानप्रक्रिया पृथक् पृथक् वर्तते। गानं निशम्यैव सहृदया वेदस्य ज्ञानं कुर्वन्ति यत् कस्य वेदस्य गानं भवति। यद्यपि वेदे गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-अनुष्टुप्-बृहती-छन्दसां निदर्शनमस्ति। कालक्रमेण तदाधारेणेन लौकिकच्छन्दसां विकासोऽभवत्। येषां प्रयोगो भवति काव्यविलासे। काव्यस्यापि प्रयोजनं चतुर्वर्गसाधनमेवास्ति। काव्यस्याध्ययनेन षडङ्गवेदानामध्ययनस्य लाभो भवति। यतो ह्यत्र काव्ये समेषां विनियोगो भवति। अतः सहजतयाऽल्पधियामपि सर्वं ज्ञानं भवति। अतएव काव्यप्रयोजनं निरूपयताचार्यविश्वनाथेन साहित्यदर्पणे लिखितं यत् -

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।[३]

छन्दः पादौ वर्तते। अतस्तद्विना गमनं विलसनं विस्तारो वा सम्भव एव नास्ति। अतस्तद्ज्ञानं परमावश्यकम्। यदि पादौ विना कश्चित् गन्तुमिच्छति तदा परमेश्वरेच्छैव बलवती नान्यत्किमपि।

मूक होई वाचाल पंगु चढई गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयालु द्रवहु सकल
कलिमलदहन।।[४]

परन्तु कवित्वलाभाय छन्दसामध्ययनमावश्यकम्। अन्यथा पदविहीनकविता पंगुकवितैव भवति। सा क्षणं यावल्लोकमनोहारिणी भवितुमर्हति परन्तु चिरस्थायिरूपेण सज्जनानां चेतसि स्थानं प्राप्तुमसमर्थैव। अतएव संस्कृतसाहित्यजगति सूक्तिरियं प्रचलिता वर्तते यत् '**अपि माषं मषं कुर्यात् वृत्तभङ्गं न कारयेत्।**'

आधुनिकसंस्कृतसाहित्यकाराणां चेतसि वृत्तविहीनपदरचना क्रमशः स्वपदं स्थापयितुं सयत्ना वर्तते। प्रकारभिन्नत्वात् नवनवोन्मेषशालिनीप्रतिभायाः परिचयं स्थापयन्तोऽन्येपि समर्थका भवन्ति। तदेव नवीनान्वेषणरूपेण जानन्ति तज्ज्ञाः। परन्तु कदापि न विस्मरणीयं यदाचार्याणां निर्दिष्टमार्गोल्लंघनपूर्वक-नवीनमार्गसर्जनेन साहित्यस्य शिवं न भवितुमर्हति। आचार्यमम्मटेन श्लेषालंकारस्य शब्दालंकारत्वम-र्थालंकारत्वञ्च प्रतिपादितं तथाप्युभयालंकारे न गणितः आचार्यवचनरक्षणाय।

संस्कृतसाहित्ये वृत्तरत्नाकरच्छन्दोविचित्यादिषु येषां मातृक-वार्णिक-च्छन्दसां प्रतिपादनमस्ति, तानपहाय हिन्दीभाषायां कवित्त-सोरठा-छन्द-सवैया-घनाक्षरी-इत्यादीनामपि प्रयोगोऽधुना बहुलतया भवति। यतोहि संस्कृतलौकिकच्छन्दसामेव परस्परनियोजनेनान्यभाषाया छन्दसो निर्माणं भवति। वक्तुं शक्यते यत् संस्कृतच्छन्दसामेव संकरता वर्तते तत्र। संकरो रमणीयो भवतीति निश्चितम्। अतः हिन्दीभाषायाः छन्दोविधानेनेदानीं संस्कृतभाषायामपि रचना भवति बाहुल्येन। तत्र क्षमता वर्तते लोकमनोरञ्जनस्य। यतोहि तत्रापि निश्चिता मात्रा निश्चितो वा वर्णो वर्तते। आधुनिककतिपयैराचार्यैः नवीनवृत्तानापामप्युद्घाटनं कृतम्। परन्तु प्रायस्तत्रापि लयात्मकता वर्तते। संस्कृतप्रचाराय प्रसाराय लोकभाषाया गीतानुकूलवृत्तरचनायां पारंगतोऽभिराजराजेन्द्रमिश्रः। तस्य संस्कृतगीतानि सुप्रसिद्धानि वर्तन्ते। परन्तु कदापि तेन निश्चितमात्रात्मकता वर्णात्मकता वा न परित्यक्ता। अतएव वृत्तता तत्रावलोक्यते। परन्तु तद्विहीनपदानां लेखनेन कथं स्याल्लोकरञ्जनमिति न जाने।

कवित्वलाभाय सहृदयानुरञ्जनमावश्यकम्। अतएव ध्वन्यालोकारेणानन्दवर्धनाचार्येणोक्तं यत् -

तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।[५]

सहजतया जनानां चेतसि काव्यं स्थापयितु सयत्नाः सन्त्याचार्याः। अन्यथाऽन्यदर्शनादीन्यपि शास्त्राणि

पुरुषार्थचतुष्टायावाप्तये सफलानि सन्त्येव। यथा –

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।[६]

अल्पधियां सुकुमारमतीनामित्यर्थो ग्राह्यः। यदि तेषा कृते न स्यादुपकारस्तर्हि काव्यस्य प्रयोजनमेव किम्? वृत्तनियोजनस्य महत्त्वं सहृदया एव जानन्ति। तदतिरिक्तवाग्व्यापारमात्रेण तद्बोधनं न भवति। सन्ति बहूनि छन्दांसि निर्दिष्टानि तथापि –प्रार्थनायां वसन्ततिलका शिखरिणी च, करुणे शिखरिणी, चाटुकारितायां यशोगाने च शार्दूलविक्रीडितं, गेयतायां विप्रयोगवर्णने च मन्दाक्रान्ता,सामान्यवर्णने वंशस्थः, उपजातिश्च, रूपवर्णने पृथिव्यादयः, प्रकृतिचित्रणे मालिनी,द्रुतविलम्बितादयः विशिष्टवैशिष्ट्यमावहन्ति। यद्यप्यन्येषामपि तत्तत् प्रयोगो भवति भवितुमर्हति परन्तु पूर्वोक्तवर्णनेन यच्चारुत्वं तत् सहृदया एव जानन्ति। यथा करुणरसेऽप्यानन्दानुभूति-र्भवतीति विषये सहृदया एव प्रमाणम्। यथा–

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।[७]

बलात्सर्वत्र सर्वं कुर्वन्ति कवयः। परन्तु तत्रापि लोकरञ्जनं प्रथमोद्देश्यं भवति। यदि कवेश्शक्तिरस्ति तर्हि काव्यविशेषे केनापि प्रकारेण रसं साधयितुं समर्था भवन्ति कवयः। परन्तु यदि केवलं पूर्वकविना कृतमित्थमत एवाहमपि करोमीति धिया काव्यस्य विनाशमार्गस्यैवोन्मीलनमस्ति नान्यत्।

हिन्दीभाषायां यदा छन्दोविहीनमार्गस्योन्नयनम-भवत्तदा कवीनां शक्तिरेवासीत् तादृशी यया लोकानुरञ्जनं जातम्। परन्तु तत्रापि चिरस्थायित्वं नाभवत्। जानन्ति सहृदयाः यत् पूर्वं बालकानां कण्ठे भवति स्म पाठोचितकविताः। इदानीं सामान्यतया बालकानां कण्ठे कापि कविता न भवति। कारणं तत्र वृत्तविहीनता तदनुकूलौचित्याभावश्च। बालकानां कृते दार्शनिककविता न रोचते। तथापि छन्दोबद्धता तत्र सहायकतामाचरति। अतएव बालकान् सहजतया पाठयितुं ज्योतिषशास्त्रस्यापि रचना कृता वर्तते छन्दोबद्धतया लीलावतीरूपेण। सरसायाः छन्दोबद्धताया अभावादेवाधुना जनाः साहित्यक्षेत्रात् दूरे भवन्ति। इदमेव समाजविघनटस्यापि कारणमस्ति। परन्तु बालकाः पठितुं समर्थाः न सन्तीति वचनं स्वदोषगोपनमेवास्ति नान्यत् किमपि।

इदानीं वैदेशिकच्छन्दसां प्रयोगोऽपि बाहुल्येन भवति। सोनेट इत्यादिच्छन्दसो लेखकानामपि विशिष्टा पद्धतिरस्ति। अतस्तत्रापि छन्दोयोजना वर्तते इति वक्तुं शक्यते परन्तु छन्दोविहीनरचना साहित्यस्य भविष्यं नाशयतुिमेवोद्यता वर्तते इत्यपि सत्यमिव प्रतीयते। भवतु नाम कस्यचिदपि च्छन्दसः प्रयोगः, परन्तु छन्दोविहीनता न भवेत्। लौकिकसंस्कृतसाहित्यच्छन्दसां शिखरिणीशार्दूलविक्रीडितादीनामास्वादं जानन्त्येव भवन्तः। हिन्दीभाषायां प्रयुक्तच्छन्दसां संस्कृते प्रयोगस्य कतिचनोदाहरणानि प्रस्तूयन्ते। स्वयमेव पश्यन्तु सुधियः उभयोर्वैभिन्न्यम्। –

हिन्दीभाषायाः कवितेव संस्कृतप्रयोगः

रमणीयादपि रमणीयं नहि रमणीयं भवतीह यदा।
मन्ये मानसकमलवने वसतीह हंसिनी कापि तदा।।[८]
मार्गे यत्र युवानस्तस्या रूपमधौ मधुपा आसन्
पवनाघातैरपि वसनस्पर्शञ्चाप्तुं निरता आसन्।
तेषां भावादनभिज्ञा सा गच्छन्तीव लता ह्यासीत्
अन्तर्नादनिनादरता सा गङ्गावद्विमला ह्यासीत्।।[९]

घनाक्षरी

भारतभूमिरियं जनवन्दितपादपयोजपरागपरीता
सागरतुङ्गतरङ्गतरङ्गितरत्नसमूहविभावलिदीप्ता।
काननकुञ्जनिवासरतप्रियमानसमोदकरी सुपुनीता
शङ्करमौलिविहाररता जलजातमधुप्रियगुञ्जनगीता।।[१०]

सवैया

यदि संस्कृतिमिच्छसि जीववतीं नवनीतिलतामपसारय रे
परपोषणधर्ममिषात् गृहिणीमपि नैव गृहादपसारय रे।
अतिथेरिह सेवनमस्ति वरं न परञ्च सुतानपसार्य गृहात्
पदरक्षणमस्ति वरं स्वजने न कदापि परं
कुलधर्मपणात्।।[११]

छन्द–

निजनिलयवासमुपेत्य शिशुभिः पत्रिकुलकलकूजनं
श्रवणे निधेहि च मानवोचितजीवनं कुरु जीवनम्।
हृदये निधेहि मनोजरणनस्याङ्गनं कुसुमाञ्चितं
न हि गजविलासमुपास्य मर्दय नन्दनं नलिनीवनम्।।[१२]

छन्दोविहीना रचना

हतश्रीपद्मिनीमुखे
तुषारकणान् दृष्ट्वा
एकतः हसति चन्द्रमा।
हसति च कुमुदिनी
विलोक्य प्रियस्य विजयम्।[१३]

००००

दीर्घप्रतीक्षायाः परं यानमुपरि गतम्
सहसा वा मेघलोकं प्राप्तम्
एयरइण्डिया–यानम्
शक्तपक्षमात्रं रक्तवर्णमयम्।[१४]

००००

वयं अन्तरशुद्धाः
दुःखमये संसारे
सुखानां प्रोन्नतद्वीपान् रचयितुं शक्ताः।[१५]

संस्कृतच्छन्दोबद्धरचनायामसमर्थानभिलक्ष्यैव महाकवित्रिविक्रमभट्टेनोक्तमासीत् यदेते कवयो बालका भवन्ति।

अप्रगल्भा पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव।।[१६]

सङ्केतसूचिः –

१ (मार्कण्डेयपुराणम्) दुर्गासप्तशती प्रथमाध्यायः
२ नैषधीयचरितम् प्रथमसर्गः
३ साहित्यदर्पणः काव्यप्रयोजनम्
४ रामचरितमानस
५ ध्वन्यालोकः प्रथमोद्योते
६ साहित्यदर्पणः
७ साहित्यदर्पणः।
८ रमणीयादपि रमणीयम् पृ०१७
९ रमणीयादपि रमणीयम् पृ० ११९
१० रमणीयादपि रमणीयम् पृ०२९
११ रमणीयादपि रमणीयम् पृ० ७५
१२ रमणीयादपि रमणीयम् पृ० ८५
१३ पद्यबन्धा पत्रिका स्पन्द १० पृ० ११०
१४ पद्यबन्धा पत्रिका स्पन्द १० पृ० १०४
१५ पद्यबन्धा पत्रिका स्पन्द १० पृ० ९२
१६ नलचम्पू प्रथमोच्छ्वासः १/६

– एसोसियेट प्रो० साहित्यविभागः,
श्रीभगवानदास–आदर्श–संस्कृतमहाविद्यालयः
(हरिद्वारम्)

वैदिकछन्द

छन्द नाम	अक्षरसंख्या
गायत्री	२४
उष्णिक्	२८
अनुष्टुप्	३२
बृहती	३६
पंक्ति	४०
त्रिष्टुप्	४४
जगति	४८

ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता

❑ डॉ. सी. एस. आर. लिङ्ग रेड्डी...✍

ज्यौतिष शास्त्र की परिभाषा -

लगधाचार्य के वेदाङ्ग-ज्यौतिषम् से लेकर सूर्यसिद्धन्त, भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि पर्यन्त ज्यौतिषशास्त्रीय ग्रन्थों में ज्यौतिषशास्त्र की परिभाषाएं दी गई हैं। इन परिभाषाओं में लगधाचार्य की परिभाषा सर्वश्रेष्ठ एवं वास्तविक परिभाषा है। जो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त है। तथाहि- **कालविधानशास्त्रं ज्यौतिषम्।** जिस शास्त्र में काल का विधान किया गया हो वह ज्यौतिष कहा जाता है। ज्यौतिष शास्त्र का लक्ष्य काल ही है। अर्थात् हर तरह से ज्यौतिष शास्त्र का साध्य काल ही है। किन्तु वहीं परवर्ती काल में ज्यौतिष शास्त्र की परिभाषाओं में अनेक परिवर्तन हुये हैं। जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में ज्यौतिष शास्त्र केवल और केवल कालविधानशास्त्र तक सीमित नहीं रहा, अपितु **'वेदाङ्गमग्रमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम्', 'ग्रहाणां चरितम्'** के रूप में भी प्रतिष्ठित हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्ष में सुदूरस्थ एवं द्युलोक में स्थित ग्रह नक्षत्रों की गति अर्थात् संस्थान, चलन, मान आदि का विशेष ज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र भी ज्यौतिष शास्त्र है। यद्यपि सूर्यसिद्धान्त में आगे चलकर **'कालाश्रयं ज्ञानं ग्रहाणां चरितं महत्'** ऐसा कहते हुये यह स्पष्ट किया गया है कि कालप्रधान एवं ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति, चलन, मान आदि का प्रतिपादक ज्यौतिष शास्त्र है।

इस प्रकार से मूल्याङ्कन करने पर यह सहज बोध होता है कि वेदाङ्गज्यौतिष का साध्य काल है एवं साधन ग्रहनक्षत्र आदि हैं। क्योंकि ग्रहनक्षत्रों की गतियों से भूत, भविष्य एवं वर्तमान इन तीनों कालों का बोध किया जाता है। अन्य घड़ी आदि साधनों से वर्तमान काल का तो बोध कर सकते हैं, वहीं भूत एवं भविष्य काल का बोध करना संभव नहीं है। लेकिन परवर्ती कालीन सूर्यसिद्धान्त आदि ज्यौतिष ग्रन्थों के अनुसार ज्यौतिष शास्त्र का साध्य काल के साथ ग्रहनक्षत्र आदि भी हैं। यद्यपि ग्रहनक्षत्र आदि काल के साधन भी हैं, तथापि सूर्यसिद्धान्त में काल सम्बन्धी प्रसङ्ग दश प्रतिशत ही है। वहीं ग्रहों का चरित ९० प्रतिशत है। इसलिए सूर्य सिद्धान्त का साध्य ग्रह नक्षत्र आदि भी बन गये हैं। किन्तु इनको ज्यौतिषशास्त्र का लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। फिर भी सूर्यसिद्धान्त आदि परवर्तिकालीन ज्यौतिषशास्त्रीय ग्रन्थों में ग्रह नक्षत्र आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जिससे वे ज्यौतिषशास्त्र के प्रमुख विषय बन गये हैं। आगे जाकर ज्यौतिषशास्त्र में अनेक अन्य ऐसे शास्त्र भी शामिल होने लगे, जो ग्रहनक्षत्रों के आधार पर भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदाओं के वर्णनों से सम्बद्ध थे एवं ग्रहनक्षत्रों की स्थितियों के आधार पर जातक के लिए विभिन्न फलों का कथन कर रहे थे। इन शास्त्रों में काल की चर्चा अतीव गौण व नगण्य थी। इन शास्त्रों को संहिता एवं होरा नामक स्कन्धों के अन्तर्गत लाकर ज्यौतिष शास्त्र में शामिल करते हैं। इन पर विशेष विचार आगे किया जा रहा है।

ज्यौतिष शास्त्र का महत्त्व-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः
कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं
यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥[१]

ज्यौतिषशास्त्र का अपरनाम कालविधानशास्त्र है। यह वेदाङ्गों में अन्यतम महत्वपूर्ण शास्त्र है। क्योंकि ज्यौतिष-विद्या प्रयोगप्रधान चाक्षुष-विद्या है। अतः आँख से समय, ग्रहस्थिति आदि का परिज्ञान इस शास्त्र से किया जाता है। क्रान्तिवृत्त यन्त्र प्रभृति विशिष्ट-यन्त्रों से युक्त वेधशालाओं का प्रयोग इस विद्या में अतीव आवश्यक होता है। इसलिए ज्यौतिष के अध्ययन में इन यन्त्रों का विशेष ज्ञान सम्मिलित होता है। इस का तात्पर्य यह है कि पारम्परिक ज्यौतिष-शिक्षा में यन्त्रों के प्रयोग का पक्ष विशेष रूप से रहता है।

वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमकल्मषम्॥

सिद्धान्त रूपी ज्यौतिष शास्त्र को वेद का नेत्र कहा गया है। इस के विना श्रुति-स्मृतियों में उपपादित कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं होती है। एक विशेष बात यह है कि पाणिनीय शिक्षा में भगवान् वेद के चक्षु के रूप में ज्यौतिष शास्त्र का वर्णन उपलब्ध होता है ।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रौत्रमुच्यते॥[२]

ज्यौतिष-शास्त्र के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इस शास्त्र में ग्रहों की स्थिति, गति आदि का अध्ययन गणित के माध्यम से किया जाता है। अतः ज्यौतिषशास्त्र के अपरनामों में गणित भी अन्यतम है।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥[३]

ज्यौतिष-शास्त्र के लिए गणित शब्द का प्रयोग वेदाङ्गज्यौतिष के रचनाकार लगधाचार्य ने सर्वप्रथम किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में ज्यौतिष पाठ्यक्रम देते हुए कहा है कि ज्यौतिषशास्त्र में बीजगणित, अङ्कगणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्याएं हैं। इनको यथावत् सीखें।[४] इसका तात्पर्य यह है कि ज्यौतिष के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी विद्याएं सीखी जाती हैं। ज्यौतिष विषयों का आदि स्रोत वेद ही है। ऋग्वेद के प्रथममण्डल के सूक्त १६४ का नाम अस्यवामीय सूक्त है। इस सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि दीर्घतमस् है। यह सूक्त ज्यौतिषशास्त्र का प्रेरणादायक स्रोत है।

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि
द्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥[५]

सूर्य का वह चक्र जिसमें बारह अरे हैं। जो द्युलोक में सतत घूमता रहता है। किन्तु वह कभी भी थकनेवाला नहीं है, ना ही जीर्णहोने वाला है और न मरनेवाला है। ७२०इसके पुत्र हैं। अर्थात् ३६०दिन और ३६० रात्रियाँ उस काल -चक्र की सन्तानें हैं।

अर्थर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के सप्तम और अष्टम सूक्त में २७ नक्षत्रों की गणना की गई है। यहीं आभिजित् नामक अठ्ठाईसवाँ नक्षत्र भी बताया गया है। कश्यपसंहिता के अनुसार ज्यौतिषशास्त्र के प्रवर्त्तक अठ्ठारह आचार्य थे।

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिराः।
रोमकः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः।
शौनकोऽष्टादशाश्चैते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः॥

जिनके नाम हैं। -१. सूर्य, २.पितामह,३.व्यास,४. वशिष्ठ,५अत्रि,६.पराशर,७.कश्यप,८.नारद,९.गर्ग,१०. मरीचि,११.मनु,१२.अङ्गिरा,१३.लोमश,१४.पौलिश,१५. च्यवन,१६.यवन,१७.भृगु और १८.शौनक। किन्तु प्रसिद्ध ज्यौतिषाचार्य वराहमिहिर ने अपने पञ्चसिद्धान्तिका नामक पुस्तक में पांच सिद्धान्तों की चर्चा की है। वें हैं १.पौलिश,२.,रोमक,३.वासिष्ठ,४.सौर और ५.पैतामह।

पौलिश-रोमक-वासिष्ठ-सौर-पैतामहास्तु
पञ्चसिद्धान्ताः।

पूर्वोक्त कथनों का तात्पर्य यह है कि वैदिक युग से लेकर अब तक पारम्परिक ज्यौतिष का

अध्ययन पुण्य-कार्य माना गया है। तथा ऋतुओं और महिनों एवं तिथियों और नक्षत्रों का सम्बन्धपरिज्ञान किया जाता रहा है। मध्ययुग में भी सूक्ष्मदर्शी ज्योतिषियों एवं गणितज्ञों की महती संख्या रही है। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, मुञ्जाल,केशव, गणेश आदि के ग्रन्थ इसमें परमप्रमाण हैं। हमारे सारे ज्योतिष ग्रन्थ सूर्य, चन्द्र, ग्रहों और नक्षत्रों का गहन निरीक्षण करके ही निर्मित हैं।

ज्यौतिष शास्त्र में कलुषित मिश्रण -

लेकिन पवित्र ज्योतिर्विद्या को भाग्यविधायक शास्त्र का चोला पहनाकर अनेक स्वार्थी-तत्त्वों ने कलुषित किया है। फलित रूपी ग्रह ने ज्यौतिष शास्त्र की वैज्ञानिकता को चुनौती दे रहा है। विना परीक्षण व निरीक्षण के ही तरह-तरह के फलों का बखान करके मनुष्य का भविष्य बतलाने वाला शास्त्र बना दिया गया है। यह तो बहुत ही चिन्ता का विषय है। किन्तु भूकम्प,वर्षा, झञ्झावात, अकाल, दुर्भिक्ष आदि की भविष्यवाणी अनेक प्राकृतिक,जैविक सङ्केतों के माध्यम से किया जाता था। यह तो विश्वकल्याणार्थ ज्यौतिष शास्त्र की महती उपलब्धि है। इस तरह की भविष्यवाणियों से ज्यौतिष की वैज्ञानिकता की पुष्टि होती है। किन्तु अतीव दूरस्थ शनि आदि अचेतन ग्रहों की स्थितियों से किसी चेतन मनुष्य का जीवन को प्रभावित करके दिखलाना मात्र लालबुझक्कड़ वाली बात है। वैसा देखा जाए तो मध्ययुग के राजाओं ने निजी स्वार्थों के वजह से इन फलित-वाचकों को बढावा देना शुरू किया था। यद्यपि युद्ध में फलित-ज्योतिषी की आवश्यकता लक्षणों से परिणाम की भविष्यवाणी के लिए, और सेना के प्रोत्साहनार्थ तथा शत्रु को भयभीत करने के लिए होती है । दूसरी ओर, यह बात भी है कि ऐन्द्रजालिक के समान फलित ज्योतिषी को कर्मकाण्डीय दृष्टि से अपवित्र माना जाता है, और बौद्ध लोग अन्य अनेक पेशों के समान उक्त पेशे की भी निन्दा करते हैं।[६] किन्तु आकाशस्थ पिण्ड मनुष्यों के भाग्य पर प्रभाव डालते हैं और उनकी दृष्टि से भविष्य को पहले से बतलाया जा सकता है, भारत में यह बहुत पश्चवर्त्तिकालिक विश्वास है।

अप्रदीपा यथा रात्रिरनादित्यं यथा नभः।
तथा सांवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि॥

उपर्युक्त श्लोक में जो असांवत्सर शब्द उपलब्ध होता है वह फलित-वाचकों का सङ्केतक नहीं है अपितु जो कालपरिज्ञाता है उसका सङ्केत कर रहा है। इसलिए फलित कथन भारत की स्वतन्त्र उपज सिद्ध नहीं होता। अतः इन फलित कथनों से प्राचीन भारतीय ज्यौतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता में कोई बाधा नहीं है।

परीक्षणों से पता चलता है कि ज्यौतिष में फलित का शामिल होना अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। वास्तव में ज्यौतिष से फलित का सम्बन्ध इतना ही रहना चहिए कि प्राकृतिक एवं जैवीय लक्षणों से आने से पहले ही दैव्यापदों का पहचान कर सके। और उनके लिए पर्याप्त सावधानी वर्त्ती जा सके। किन्तु राशिफल वगैरह फलित के गप्पे मनुष्य के लिए दुःखदायक हैं। यद्यपि व्यक्ति में अपने जीवन के प्रति जिज्ञासात्मक ऊहापोह रहते हैं। किन्तु

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[७]

इस गीताश्लोक से स्पष्ट होता है कि हमें शास्त्रोक्त कर्म करते रहना चहिए। वहीं फल के प्रति निःस्पृह रहना ही सुखप्रद रहता है। अतः भाग्यविधायक फलित कथनों को छल-प्रपञ्च ही कहा जा सकता है, वें कथञ्चिदपि ज्यौतिष में शामिल नहीं है। इसलिए आजकल दूध में जल की तरह ज्यौतिषशास्त्र में जो फलित फैला हुआ है वह ज्यौतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता की सिद्धि में सबसे बड़ी बाधा है। ये फलित ग्रह, नक्षत्र, तिथि, वार, योग, करण, आदि से सम्बद्ध होकर ज्यौतिष में घुसपैठ कर चुके हैं। इन्ही

के साथी सामुद्रिक-लक्षण, हस्तरेखाज्ञान वगैरह सर्वथा बेमेल होकर भी ज्योतिष के अभिन्न अङ्ग बन चुके हैं। अब वास्तु भी ज्योतिष का पर्याय बनता जा रहा है।यहाँ तक कि सम्बद्ध राशियों में ग्रहों की स्थिति के अनुसार व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर असर पड़ने की नितान्त मिथ्या भी फैलायी जा रही है। जबकि आहार-विहार ही स्वास्थ्य में प्रधान कारक होता है। हाँ, सूर्य, चन्द्र आदि समस्त प्रकृति को प्रभावित करते हैं। ये ग्रह वैयक्तिक प्रभाव नहीं डाल सकते। अतः यह सब स्वार्थी तत्त्वों का वितण्डा-ताण्डव ही है।

किन्तु कालविधायक शास्त्र के रूप में तथा गणितशास्त्र के रूप में जो ज्योतिष शास्त्र है वह पूर्णतः वैज्ञानिक है। ज्योतिषशास्त्र निश्चितरूप से विज्ञान की पदवी से विभूषित है। क्योंकि विज्ञान के नियम स्थिर, निश्चयात्मक, अपवाद- शून्य और देश काल के बन्धन से रहित होते हैं। फलित-कथन तो अधूरे, कल्पित, एकदेशी, नियमरहित और अपवाद-बहुल होते हैं। अतः उनको विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इन्हें धक्का जोरी, बलात् अथवा साहस से वैज्ञानिक सिद्ध करना उपहास की पराकाष्ठा होगी। क्योंकि इन्हें सर्वाङ्गपूर्ण नियम में बांधा नहीं जा सकता।

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामायं संहरिष्यति।[८]

अर्थात् अल्पश्रुत होने के कारण ही लोगों में फलित प्रतिष्ठित हो रहा है। अपूर्ण नियमों पर कल्पित किये गये फलित मत भला विज्ञान की कोटि में कैसे आ सकते हैं? कोई श्रेष्ठ विद्वान् (**Sound Scholar**) इन फलित गप्पों को स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा ज्ञान संसार की हानि करता है और जन साधारण को भ्रम में डालता है।

ज्यौतिष शास्त्र की वैज्ञानिकता-

ज्यौतिष में प्रतिपादित निमेष से लेकर कल्प तक की काल की इकाइयाँ निश्चित समयावधिक होती हैं। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है और सर्वजन स्वीकार्य भी है। ज्यौतिषशास्त्र में जो २७ से २८ नक्षत्रों का अभिकथन है वह तो निश्चित रूप से निजी आँखों से जानने योग्य है। ठीक इसी तरह से ग्रहों का भी है। यद्यपि हमारे पारम्परिक ज्यौतिष में नव-ग्रहों की ही चर्चा है तथापि आधुनिक काल में युरेनस, नेपच्यून और प्लूटो भी उनके साथ जुड़ गये हैं। मजेदार बात यह है कि हमारे नव ग्रह प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। आधुनिक विज्ञान भी कथमपि इनकी असिद्धि नहीं कर सका है। सम्पूर्ण आकाशमण्डल को बारह राशियों में विभाजित करके हमारे ज्यौतिष में ऐसा लाघव प्रस्तुत किया गया है कि २८ नक्षत्रों से युक्त इन राशियों में विचरण करने वाले ग्रहों की स्थितियाँ गणित के माध्यम से आसानी से मापी जा सकती हैं। यह अतीव वैज्ञानिक है। क्रान्ति वृत्त एवं मार्गवृत्तों से ग्रहों के परस्पर एक सीध में आना और उससे होने वाले परिणामों का कथन ज्यौतिषशास्त्र प्रयोग एवं निरीक्षण पूर्वक करता है। अतः यहाँ सत्य पर आधरित वैज्ञानिकता है।

यद्यपि हमारे यहाँ राहु एवं केतु की कल्पना उपलब्ध होती है। वह तो पुराणों का अभिकथन मात्र है। इस बात को इतना बढ़ा चढ़ा कर पेश किया गया है कि सूर्य और चन्द्र ग्रह नही अपितु देवताएं हैं। क्रमशः इनको कुछ काल के लिए राहु एवं केतु नामक राक्षस निगल लेते हैं और पुनः वमन भी कर लेते हैं। यह भ्रान्ति पुराणों के अन्धाधुन्ध अनुकरण का फल है। किन्तु वास्तविकता यह है कि पृथ्वी और चन्द्र की छायाओं को राहु एवं केतु के नाम से जाना जाता है। यहाँ किसी प्रकार की पौराणिक-गाथा का परिणाम नहीं है। कालान्तर में की गई ऐसी कल्पनाएं ज्योतिष को कलुषित कर दिया है। समुद्र का मन्थन, शेषनाग, देव और राक्षसों द्वारा मन्थन करना अन्त में अन्यान्यों के साथ अमृत को पाना, ये सबके सब मिथ्यात्मक कल्पनाएं हैं। इस तरह के

अवैज्ञानिक विचार(Unscientific Views) ज्यौतिष में नहीं है। दन्तकथाओं में जितने मुंह उतनी बातें होती हैं। वहाँ वास्तविकता का पुट नहीं रहता। ऐसा दुराग्रह संसार की हानि करता है और जनसाधारण को भ्रम में डालता है। किन्तु हमारे पारम्परिक ज्यौतिषशास्त्र में सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण का ठीक-ठीक आकलन करने की प्रक्रिया वर्णित है। इसमें पूर्णतः वैज्ञानिकता है।

तिथिपत्र का निर्माण आदि अनेक ऐसे ज्यौतिष शास्त्रीय कार्य हैं, जो इस शास्त्र की वैज्ञानिकता को पुष्ट करते हैं। हमारे यहाँ अनेक ज्यौतिषशास्त्रीय यन्त्रों से युक्त वेधशालाएं जयपुर, दिल्ली, वाराणसी,नैनीताल आदि स्थानों में विद्यमान हैं। इनसे अनेक खगोलीय पिण्डों का अध्ययन बारीकी से किया जाता है। इन यन्त्रों से सही-सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जो पूर्ण वैज्ञानिक हैं।

उपसंहार-

भारतीय पारम्परिक ज्यौतिष शास्त्र पूर्णतः वैज्ञानिक है। पश्चवर्त्तीकाल में इसमें तरह तरह के भ्रष्ट मत शामिल हो गये हैं। जिनसे इस शास्त्र की वैज्ञानिकता सन्देह के घेरे में आ गई है। किन्तु ये भ्रान्त धारणाएँ ज्यौतिषशास्त्र की उपज नहीं हैं अपितु अल्पश्रुत,स्वार्थीतत्त्वों से प्रवर्त्तित हैं। इन भ्रान्त मतों का परिशोधन करने की आवश्यकता है। ताकि पूर्ववत् पुनरपि पारम्परिक ज्यौतिष शास्त्र में सत्यता लाई जा सके।।

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणियाँ

१. वेदाङ्गज्यौतिषम्, श्लोक संख्या-३
२. पाणिनीयशिक्षायाम्
३. वेदाङ्गज्योतिष, श्लोक संख्या-४
४. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ.६४
५. ऋग्वेद(१/१६४/११)
६. द्र.संस्कृत सहित्य का इतिहास, ए.बी.कीथ,पृ.६६८
७. गीता(२/४७)
८. कृष्णद्वैपायन व्यास का कथन।

- ५०४- गंगा ब्लाक्,
गंगादर्शन अपार्टमेन्ट, हरिपुरकलाँ,
रायवाला (पोस्ट), देहरादून(जनपद)
उत्तराखण्ड-२४९२०५

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

– महाभा. – १/१/१

स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है, अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो.) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलने का गिन जाता है। और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।

-स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषयः

व्याकरणस्य वेदे स्वरदृष्ट्या महत्त्वम्

❑ डॉ. रवीन्द्रकुमारः...✍

प्राचीनकालस्य ऋषयः इच्छन्ति स्म यद् वैदिमन्त्राणां कोऽपि जनः स्वेच्छानुसारेण मन्त्रार्थकरणस्य दुःसाहसमपि न कुर्यात्। अतः ऋषयः अस्य पूर्णरक्षायाः उपायान् कृतवन्तः। एषः उपायः एतादृशः जागरूकः दृढ़श्च अस्ति यत् एतावद्दीर्घकालस्य पश्चादपि वेदस्य एकमक्षरमपि न स्खलितम् अभवत्। वेदानां सस्वरोच्चारणं तथैव विशुद्धरूपे अद्यापि श्रूयते। यथा प्राचीनकाले भवति स्म। अस्य कृते प्राचीनमहर्षिभिः उदात्तादिस्वराणाम् अष्टविकृतीनां च व्यवस्था कृता। उदात्तादिस्वरव्यवस्था-कारणेन यस्य वर्णस्य उदात्तोच्चारणं भवति तस्य वर्णस्य उदात्तः एव उच्चारणं भवति। अष्टविकृतयः सन्ति-१. जटा, २. माला, ३. शिखा, ४. रेखा, ५. ध्वजः, ६. दण्डः, ७. रथः, ८. घनः।

उक्तं च यत् -

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो धनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपवूर्वा महर्षिभिः।।[1]

परन्तु खेदः वर्तते यत् अद्यत्वे विद्वांसः स्वेच्छानुसारेण तर्कसङ्गतार्थं प्रतिपादयितुं स्वरेषु विभिन्नाः परिकल्पनाः कृतवन्तः। विकृतिपाठम् अपि नगण्यं मत्वा स्वतार्किकार्थानां प्रतिपादने मौलिकतायाः हनने कश्चिदपि सङ्कोचो न कृतः। अत्र वयं विवेचनं कुर्मः यत् स्वरस्य वेदे का उपादेयता वर्तते?

संस्कृतवाङ्मयम् एतावत् महत् अस्ति यत् शब्दानां पारायणम् एव केवलं स्यात् तर्हि कष्टसाध्यं कार्यं भविष्यति। अत एव महाभाष्यकारेण स्पष्टं लिखितं यत् **-एवं हि श्रूयते-बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम..........तत्र चास्यागकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।**[2]

अत्र उपर्युक्तोद्धरणस्य अभिप्रायोऽयं वर्तते यत् संस्कृतवाङ्मये प्रयुक्तैकशब्दस्यापि बह्वर्थाः भवन्ति एतादृश्यां परिस्थितौ सद्यः एव प्रयुक्तशब्दस्य कः अर्थः अस्ति। तदानीम् इममर्थं वयं वेदे स्वरमाध्यमेन निश्चितरूपेण शीघ्रमेव अवगच्छामः। व्याकरणशास्त्रे निष्णाताचार्यः भर्तृहरिः एतादृश्याम् अवस्थायां शब्दानाम् अर्थनियमनार्थं निम्नलिखितप्रकारान् वर्णितवान् यथा -संयोग-विप्रयोग-साहचर्य-विरोध-अर्थ (प्रयोजनम्) प्रकरण-लिङ्ग-अन्यपदसमीपता- सामर्थ्य-औचित्य-देश-काल-व्यक्ति (लिङ्गत्रय)-स्वरभेदाः। उक्तमपि वाक्यपदीये यथा-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[3]

अत्र चतुर्दशप्रकारेषु आदित्रयोदशप्रकाराणि लौकिकसंस्कृते वैदिकसंस्कृते च सामान्यतया प्राप्यन्ते, परन्तु स्वरः वेदे एव परमोपयोगी अस्ति, अतः स्वरस्य वेदार्थदृष्ट्या नितान्तावश्यकता वर्तते।

वेदार्थे स्वरस्य कः उपयोगिता भवति किं महत्त्वं भवति इति तु वेदज्ञाः एव पूर्णरूपेण जानन्ति तथा च यत्र-तत्र सोदाहरणपूर्वकं लिखितमपि वर्तते। एकेन आख्यायिकानुसारेण त्वष्ट्रनामकासुरेण स्वपुत्रवृत्रस्य वृद्धये यस्य यज्ञस्यायोजनं कृतम्, तस्मिन् यज्ञे ऋत्विग्भिः **'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व'** मन्त्रे **'इन्द्रशत्रुः'** शब्दोऽन्तोदात्तो वर्तते परन्तु सम्भवतः इन्द्रस्य प्रभावेण प्रभाविताः अथवा स्वानुकूलकृताः ऋत्वजः मन्त्रे प्रयुक्तं **'इन्द्रशत्रुः'** इति शब्दमाद्युदात्तम् अर्थात् **'इन्द्रशत्रुः'** इति उच्चारितवन्तः।

अतः '**इन्द्रशत्रुः**' शब्दः तत्पुरुषसमासात् बहुव्रीहिसमासे परिणतः अभवत् तस्यार्थश्चाभवत् '**इन्द्रः शत्रुर्यस्य**'। एवं त्वष्ट्रा कृते यज्ञे तस्य इष्टफलात् विपरीतफलं प्राप्तम्। तस्य च विनाशः अभवत्। उक्तं शिक्षाशास्त्रेषु यत्–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः
स्वरतोऽपराधात्।।[४]

पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्याकारः पतञ्जलिः व्याकरणस्य प्रयोजनानि वर्णयन् वदति यत् – अन्देहार्थं चाध्येयं व्याकराम्। स्वमतं पोषयितुं '**स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत**' इति वाक्येन स्थूलपृषतीम् उद्घरति। तत्र द्विधा विग्रहः। यथा–
१. स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती। अन्यत् २. स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषती। प्रथमविग्रहे पाणिनिसूत्रेण '**समासस्य**'[५] इति सूत्रेण अन्तोदात्तः भवति। द्वितीयविग्रहे '**बहुवीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्**'[६] इति सूत्रेण आद्युदात्तः भवति। एवम् अन्तोदात्तेन आद्युदात्तेन च '**स्थूलपृषती**' शब्दः क्रमशः तत्पुरुषसमासस्य, बहुव्रीहिसमासस्य च द्योतकः भवति। '**असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिका पठन्ति स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति............समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति।**'[७]

तत्पुरुषसमासेन '**स्थूलपृषती**' इति शब्दे अन्तोदात्तः भवति, तदा '**पृषती**' शब्दः प्रधानः भवति। बहुव्रीहिसमासेन '**स्थूल**' इति पदे उदात्तः भवति तदा '**पृषती**' शब्दस्यापेक्षया स्थूलशब्दस्य प्रधानता भवति। यद्यपि बहुव्रीहिसमासेन न तु स्थूलशब्दस्य प्रधानता भवति न तु पृषतीशब्दस्य अपितु अन्यपदार्थस्य प्रधानता भवति। एवं समासानां विभिन्नतया विग्रहोऽपि भिन्नः भवति, अत एव विग्रहजन्यार्था अपि भिन्नाः भवन्ति। एवम् अर्थस्यावधारणायाः कृते स्वरस्य महत्त्वं स्पष्टमेव वर्तते।

महाभाष्यकारपतञ्जलिसमये मन्त्रोचारणस्य कृते स्वरस्य एतावती प्रधानता उपादेयता चासीत् यत् कोऽपि जनः स्वरातिक्रमणस्य दुःसाहसमपि कर्तुं न शक्यते स्म।

निरुक्तकारेण यास्कमुनिना तु एतादृशानां विदुषां सङ्केतः कृतः यत् ये विद्वांसः वैदिकमन्त्रान् तु कण्ठीकृतवन्तः, परन्तु तेषां मन्त्राणाम् अर्थान् न जानन्ति। एतादृशाः विद्वांसः अद्यापि काश्याम्, पूनायाम् आदिविद्याक्षेत्रेषु विद्यमानाः सन्ति। वैदिकसाहित्यम् एतादृशानां जनानाम् आभारं वहति। पुनरपि खेदविषयोऽयं वर्तते यत् ते जनाः अक्षरज्ञानेन सह अर्थज्ञाः न सन्ति। अर्थज्ञानाय सर्वप्रथमं स्वराणां ज्ञानं परमावश्यकं वर्तते। अन्यथा वेदाध्ययनोपरान्ते मन्त्राणाम् अर्थावगमनम् अत्यन्तं दुरुहकार्यं वर्तते। यास्काचार्यः लिखति यत् यः जनः वेदस्य तु अध्ययनं करोति परन्तु तस्यार्थं न जानाति सः वृक्षस्थाणुः इव केवलं भारहरः एव भवति। यः अर्थं जानाति स सकलं भद्रम् अश्नुते, ज्ञानविधूतपाप्मा नाकमेति।[८]

स्वरशास्त्रस्य असाधारणविद्वान् एकादशशताब्दौ उत्पन्नः वेङ्कटमाधवः स्वरस्य महत्तां स्पष्टशब्देषु प्रतिपादयन् कथयति यत् अन्धकारे दीपकानां साहाय्येन चलन् यथा – जनः न पतति तथैव स्वराणां साहाय्येन कृतार्थाः स्फुटाः अर्थात् सन्देहरहिताः भवन्ति। वेङ्कटमाधवेन उक्तमपि यत् –

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भक्त्यर्थाः स्फुटा इति।।[९]

वेङ्कटमाधवः स्वरभेदमाध्यमेन अर्थाभेदस्य समर्थकः अस्ति। वेङ्कटमाधवः कथयति यत् अर्थस्य समानता भवति तर्हि स्वरभेदः न भवति अर्थात् स्वरः सर्वत्र समानः एव भवति, यदि स्वरः सदृशः न दृश्यते तर्हि तस्य शब्दस्य अन्यार्थः करणीयः। वेङ्कटमाधवेन उक्तं यत् –

अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
यदा न तं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदानयेत्।।[१०]

यथा– **पुरुत्तमं पुरूणामृक्**[११]

अत्र '**पुरुतमम्**' शब्दे तमप्प्रत्ययः पाणिनिसूत्रेणे '**अनुदात्तौ सुप्पितौ**'[१२] इति सूत्रेण अनुदात्त एव स्यात्

परन्तु उदात्तः पठितः अस्ति। अतः अत्र दृश्यते यत् प्रत्ययार्थस्य एव प्रधानता भवति। अनुदात्तस्य 'तमप्' प्रत्ययस्य उदाहरणमधः वर्तते–

यथा – **शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्नित्तम उत क्रतुः।।**[१३]

उपयुक्ते उदाहरणे '**शुष्मित्तमः**' तथा '**द्युम्नित्तमः**' इति शब्दे तमप्प्रत्यये '**अनुदात्तौ सुप्पितौ**'[१४] इति सूत्रेण अनुदात्त एव दृश्यते तदा अत्र प्रत्ययार्थः गौणः भवति। प्रकृत्यर्थस्य प्रधानता भवति तदा '**पुरुतमम्**' इति शब्दे प्रत्यये उदात्तः स्पष्टमेव दृश्यते। अतः प्रत्ययार्थस्य एव प्रधानता भवति। उक्तं वेङ्कटेन यत्–

.......पुरूतमं पुरूणामृक् भवेत्तत्र निदर्शनम्।
तमप्चेदनुदात्तः स्यात्तथा ह्यन्यत्र दर्शनम्।।
शुष्मिन्तमो हि ते द्युम्निन्तम उतक्रतुः।
नात्रोदातौ तमौ दृष्टौ दृश्यते तु पुरुतमे।।[१५]

अतः सर्वत्र समानशब्देषु स्वरमाध्यमेन एव अर्थस्य व्यवस्थितकरणं स्यात्।

एवमेव माधवाचार्यः तृन्–तृच्प्रत्ययाभ्यां निष्पन्नशब्देषु अपि स्पष्टीकरणं कृतम्। तृनन्तशब्देषु प्रकृत्यर्थस्य प्रधानता भवति, अर्थात् क्रिया एव प्रधानरूपेण भवति। अत्र प्रत्ययश्चाप्रधानो भवति। अतः धातुभागे एव उदात्तस्वरः भवति। गम्+तृन्=गन्ता, पच्+तृन्=पक्ता, तृन्प्रत्ययस्य उदाहरणानि ऋग्वेदे दरीदृश्यन्ते।

यथा– **होम गन्ता रमूतये**[१६] अस्मिन् '**गन्तारम्**'। **जेतारमपराजितम्**[१७] अस्मिन् जेतारम् इति शब्दः। **पाता सुतमिन्द्रोऽस्तु**[१८] अस्मिन् पाता शब्दः। स चेता देवता पदम्।[१९] अत्र चेत्ता शब्दः। उपर्युक्तोदाहरणेषु धातुभागे उदात्तकारणात् क्रियार्थस्येव प्रधानता भवति, तृन्प्रत्ययस्तु गौणः। परन्तु तृजन्तशब्देषु प्रत्ययार्थस्य प्रधानता भवति, प्रकृत्यर्थः अप्रधानः भवति। प्रकृत्यर्थः उपसर्जनीभूतः अथवा विशेषणभूतः भवति । उक्तं चापि यत्–

तृन्तृश्चोश्चार्यभेदोऽयं प्रकृत्यर्थः स्फुटस्तृनि।
तृचिस्फुटः प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थोपसर्जनः।।[२०]

अतः अत्र प्रत्ययमात्रे उदात्तः भवति।

यथा– गम्+तृच्=गन्ता, पच्+तृच्=पक्ता। तृच्प्रत्ययस्य उदाहरणं ऋग्वेदे यथा –

इन्द्रो विश्वस्य दमिता[२१] अस्मिन् दमिता इति शब्दः।
भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्[२२] अस्मिन् भेता इति शब्दः।

वेङ्कटमाधवः स्वऋग्वेदस्य भाष्ये यः अडियार–मद्रासतः मुद्रितः अस्ति तस्मिन् सस्वरभेदात् अर्थभेदस्योद्धरणं ददाति, तेषु केचन सस्वरार्थसहिताः शब्दाः सन्ति तान् अत्र वयम् उद्धरिष्यामः।[२३]

जठरः=अग्निः।[२४] जठरः=उदरवचनः।[२५] यमः=येन गच्छति। यमः=वैवस्वतः।[२६] सत्यम्=ऋतार्थे । सत्यम्=वयसा ज्येष्ठः।[२७] ज्येष्ठः=प्रशस्यः। ज्येष्ठः=वयसा ज्येष्ठः।[२८] सुकृतम्=निष्ठान्तम्।[२९] 'क्तक्तवतू निष्ठा'[३०]। सुकृतम्=क्विबन्तम् । क्विप् च्[३१]। सुकृतम्=भावे निष्ठान्तं बहुव्रीहौ।

उपर्युक्तशब्दयुग्मानाम् अवलोकनेन इदं स्पष्टं भवति यत् स्वरपरिवर्तनेन अर्थपरिवर्तनं भवति। अतः शब्दः कमर्थं द्योतयति अस्य ज्ञानात् प्रागेव स्वरज्ञानस्य परमावश्यकता वर्तते। शब्दानाम् अर्थकरणसमये ध्यानं दातव्यं भवति यत् स्वरः पदस्य प्रकृतौ वर्तते अथवा प्रत्यये वर्तते। यतोहि स्वरः पदस्य यस्मिन् भागे भविष्यति तस्य भागस्य एव प्रधानता भवति, तस्यैव अर्थः मुख्यः भवति। यथा उक्तं यत् –

प्रकृतौ प्रत्यये वाऽपि यत्र व्यवस्थितः।
तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः।।[३२]

निरुक्तकारेण यास्केनापि इदं मतं समर्थितम्। यास्कानुसारेण उदात्तस्यार्थः तीव्रः भवति, अनुदात्तस्य चार्थः अल्पः अर्थात् अतीव्रः भवति। उक्तं तेन यत्–

तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।[३३]

अस्यैवोदात्तस्वरस्य महत्त्वं वर्णयन् वेङ्कटमाधवः विवेचयति यत् पदे, समासे अथवा पदस्य वर्णे यत्र–कुत्रापि उदात्तः स्यात् तस्मिन्नेव 'काकुः' विशेषार्थप्रतीतिसूचकध्वनिः अवगमनीयः। उक्तं च यत्–

एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्णे पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः।।[३४]

स माधवो वदति यद् एषु वाक्यस्वरं (तिङ्स्वरं) तु प्रायः सर्वे जनाः ज्ञास्यन्ति, समासस्वरं तु सूक्ष्मबुद्धिजनाः ज्ञास्यन्ति, तथा च पदस्वरस्य काकुध्वनिः केवलं देवेभिः एव अवगमनीयो भवति अर्थात् पदस्वरे सूक्ष्मस्वरं तु देवाः एव विदन्ति।[३५] अतः वेङ्कटमाधवः मन्यते यत् स्वरेण एव अर्थस्य व्यख्या भवति। ये पण्डिताः एवं मन्यन्ते यत् व्याकरणानुसारेण एव स्वरस्य व्यवस्था भवति, मतमिदमसङ्गतमेव प्रतीयते यतोहि अस्मिन् कोऽपि हेतुः नास्ति। स्वरानुक्रमण्यां वदति यत् -

मन्यन्ते पण्डितास्त्वन्ये यथाव्याकरणं स्वरन्।
व्यवस्थितो व्यवस्थायां हेतुस्तत्र न विद्यते।
माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थितिः।।[३६]

एवं वेङ्कटमाधवः स्पष्टरूपेण स्वराणाम् उपादेयताम् आवश्यकतां च मुक्तकण्ठेन स्वीकरोति-

माधवस्य त्वयं पक्षः स्वरेणैव व्यवस्थेतिः। उदाहरणाय वेङ्कटमाधवः लिखति यत् यत्र समासे उत्तरपदस्य अर्थस्य प्रधानता भवति तत्र उत्तरपदे उदात्तस्वरः भवति।[३७] यथा- **सुरूपकृत्नुमूतये**[३८] अस्मिन् सुरूपकृत्नुं 'द्रविणोदा द्रविणसः'[३९] अस्मिन् द्रविणोदा शब्दः। अत्र यस्मिन् समासे पूर्वपदस्य प्रधानता भवति तत्र पूर्वपदे उदात्तस्वरः भवति तस्यार्थश्च प्रधानता भवति।[४०]

यथा- **भर्गभक्तस्य ते वयम्**[४१] अस्मिन् भर्ग शब्दः। **विप्रजूतः सुतावतः**[४२] अस्मिन् विप्रः शब्दः। **अनाधृष्टास ओजसा**।[४४] अना शब्दः, नञ्तत्पुरुष समासयुक्तः।

एवं स्पष्टं भवति यत् समासस्य यस्मिन् यस्मिन् पदे उदात्तस्वरः भवति तस्य पदस्य अर्थः प्रमुखः भवति। इदं मतं समर्थयन् वेङ्कटमाधवः अग्रे लिखति यत् सर्वेषु समासेषु यत्र-यत्र उदात्तस्वरः स्यात् तस्य उदात्तस्वरार्थस्य प्रधानता येन-केन प्रकारेण काशकुशावलम्बन्यायेन स्पष्टं स्वरं प्रतिपादयेत्।[४५]

यानि पदानि आद्युदात्त-अन्तोदात्तानि भवन्ति तानि एव पदानि यदा समासस्थानि, तदा समासानुसारं तेषां प्रकृतिस्वरस्य परिवर्तनं भवति, तदा तानि क्रमशः आद्युदात्तानि अनुदात्तानि भवन्ति।[४६] एतादृश्यां परिस्थितौ यतोहि तस्मिन्नेव शब्दे उदात्तस्वरः भवति, यः शब्दः अन्तोदात्तरूपे स्यात् अथवा आद्युदात्तरूपे। सर्वत्र समासे तस्य पदस्य एव प्रधानता भवति। आद्युदात्तकारणात् प्रकृत्यर्थः प्रधानः भवति अन्तोदात्तकारणाच्च प्रत्ययार्थः प्रधानः भवति। यथा- विश्वः शब्दः आद्युदात्तः भवति परन्तु समासे अन्तोदात्तः भवति। आद्युदात्तः यथा-

विश्वे देवासो अस्त्रिधा[४७]
विश्वं समित्रिणं दह[४८]

समासस्थः अन्तोदात्तः यथा-

विश्वामित्रस्य रक्षति[४९]। **अग्निं च विश्वशं**
भुवमापदश्च विश्वभेषजीः।

एवमुपर्युक्तोदाहरणमाध्यमेन स्पष्टं भवति यत् '**विश्वः**' शब्दः यदा आद्युदात्तः भवति तदा प्रकृत्यर्थस्य प्रधानता भवति, तत्रैव विश्वः शब्दः यदा समासस्थः भवति अथवा अन्तोदात्तरूपे च भवति तदा प्रत्ययार्थस्य प्रधानता भवति।[५०]

द्वितीयोदाहरणानुसारेण '**वीरः**' शब्दः अन्तोदात्तः भवति प्रत्ययार्थस्य च तत्र प्रधानता भवति, परन्तु बहुव्रीहिसमासे एषः '**वीरः**' शब्दः आद्युदात्तः भवति, प्रकृत्यर्थस्य च प्रधानता भवति। अन्तोदात्तः '**वीरः**' शब्दः यथा- **स घा वी रो न रिष्यति**[५१]। बहुव्रीहिसमासस्थः 'वीरः' शब्दः यथा- **रयिं वहतं सुवीरम्**[५२]। एवं यस्य पदस्य प्रकृत्यर्थः अथवा प्रत्ययस्य तात्पर्यं महत्वपूर्णं भविष्यति तत्रैव स्वरः भवति। वेङ्कटमाधवः सत्यमेव लिखति यत् यत्र तात्पर्यस्य प्रधानता स्यात् तत्र स्वरं स्थापयेत्।[५३]

अत एव कुत्रापि असमस्तपदानि स्युः अथवा समस्तपदानि स्युः, यः तत्र अपि शुद्धार्थज्ञानस्य अभिलाषी अस्ति सः सूक्ष्मदृष्टया विचारयेत्। प्रकृतौ अथवा प्रत्यये यत्र कुत्रापि स्वरं स्थापयेत् परञ्च तस्य तात्पर्याय प्रमुखतां च प्रदद्यात् अर्थात् प्रकृतौ यदि स्वरः स्यात् तर्हि प्रकृत्यर्थस्य प्रधानता दद्यात् यदि प्रत्यये स्वरः स्यात् तर्हि प्रत्ययार्थस्य प्रधानता स्पष्टं प्रतिपादयेत्।[५४]

येषु समस्तपदेषु अवग्रहः न भवति अर्थात् यः शब्दः अवग्रहेण रहितः अस्ति तत्रापि स्वरमाध्यमेन एव अर्थस्य निर्णयः भवति। यदि स्वरः आदौ प्रयुक्तः अस्ति तर्हि बहुव्रीहेः अर्थस्य, यदि च स्वरः अन्ते अस्ति तर्हि तत्पुरुषस्यार्थस्य वर्णनं प्रमुखतया कुर्यात्।[५५] अनयोः द्वयोः प्रकारकयोः समासयोः – '**बहुव्रीहौ प्रकृत्त्या पूर्वपदम्**'[५६] तथा '**समासस्य**'[५७] इति पाणिनिसूत्राभ्यां क्रमशः आद्युदात्तः अन्तोदात्तश्च स्वरौ भवतः।

कानिचन एतादृशानि स्थलानि अपि दृश्यन्ते यत्र स्वरदर्शनेन प्रतीयते यत् अयं ब्रहुव्रीहिः समासः अस्ति परन्तु अर्थदर्शनेन स्पष्टं ज्ञायते यत् अयं तत्पुरुषसमासः अस्ति, एतादृशेषु स्थलेषु वेङ्कटमाधवः कथयति यत् अर्थः स्पष्टतया परिलक्षितः भवेत् तर्हि स्वरो नगण्योऽवगेन्तव्यः अर्थात् स्वरस्य अपेक्षां न कृत्वा अर्थमेव प्रमुखतया विवृणुयात्। उक्तं च यत्–

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नार्थं तत्पुरुषस्य च।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्।।[५८]

केचन एतादृशाः अपि शब्दाः भवन्ति ये सर्वानुदात्ताः भवन्ति यथा-च-ह-वा-स्म-आदयः। लौकिक-संस्कृतस्य विशेषज्ञाः यत्र-कुत्रापि साधुशब्दैः यत्र-कुत्रापि असाधुशब्दैश्च (म्लेच्छशब्दैः) अर्थाणां स्पष्टीकरणं कुर्वन्ति। बहवः शब्दा ये अनुदात्ताः भवन्ति परञ्च ते उदात्तस्वरेण प्रयुक्ता दृष्टिपथम् आयन्ति।
यथा– '**घटश्च रज्जुश्च**' अस्मिन् 'च' इत्यस्य अर्थः यो वस्तुतः अनुदात्तः भवेत्, उदात्तेन तथा '**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**' इत्यत्र वा अनुदात्तस्य उदात्तस्वरेण लौकिकसंस्कृतज्ञा वर्णनं कुर्वाणाः प्रतीयन्ते।[५९]

अस्य वर्णनं वेङ्करमाघवेन प्रभावपूर्णवर्णनेन विद्वत्तापूर्णवचनेन च कृतम्। अग्रेऽपि लिखत्यसौ यदर्थस्य स्वभावः कीदृशो भवति, स लौकिकवैयाकरणैरेव विज्ञायते नालौकिकैः।[६०]

निपातस्वरः कीदृक्? तस्य किं महत्त्वम्? अस्य अपि विवेचनं माधवेन कृतम्। किलादयो निपाता उदात्ता एव भवन्ति, अत एव एतेषां निपातानामर्थः प्रमुखतया उच्चं कृत्वा एव प्रदर्शनीयः। यदि उपसर्ग उदात्तश्चेद् उपसर्गस्यार्थ प्राधान्यं स्यात्। समासस्थ उपसर्गो यद्यनुदात्तः, तस्य चार्थो गौणो विज्ञेयः। माधवस्य स्वरानुक्रमण्याः चिन्तनेन स्वरोपादेयता सम्यक् सिध्यति। स व्याचष्टे यद् यो वैदिकस्वरान् न जानाति, केवलं स्वमनसा कुतर्कं करोति, वेदार्थं च विवक्षुः। स प्राज्ञैः उपहास्यतां याति।[६१]

महद्दुःखम् अद्यापि अनुभूयते यद् विद्वांसः स्वगृहेषु स्थिताः स्वतर्कैः स्वरम् उपेक्ष्य वेदार्थं विभिन्नतया उपवर्णयन्ति।[६२]

अतः सायणः सम्यगेवाह यद् यो वेदस्य वास्तविकं सुस्पष्टम् अर्थं जिज्ञासुः, स स्वराक्षरवर्णमात्राविनियोगार्थान् पूर्णतया जानीयात्।
उक्तं च यत् –

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे-पदे।।[६३]

वेदे '**भ्रातृव्यस्य वधाय**'[६४] अत्र भ्रातृव्यपदमाद्युदात्तं विद्यते। भ्रातृव्यपदस्य भ्रातुरपत्यं शत्रुश्चेति अर्थद्वयम्। अत्र कोऽर्थ इति स्वरेण गन्तुं शक्यते। पाणिनिः निर्दिशति यत् '**भ्रातुर्व्यच्च**'[६५] इति सूत्रेण अपत्यार्थे व्यत्प्रत्ययो भवति। तथा च शत्रुवाचके '**व्यन् सपत्ने**'[६६] इत्यनेन व्यन्प्रत्ययः। तित्वात् तु '**तित्स्वरित्**'[६७] इत्यनेन स्वरितो भवति। नित्वात् तु '**ञ्नित्यार्दिनित्यम्**'[६८] इत्यनेनाद्युदात्तः। अधुना स्पष्टं यद् भातृव्यपदं यथा स्वरितान्तः तदा अपत्यार्थकः, यदा च आद्युदात्तस्तदा शत्रुवाचकः। अत्र शत्रुवाचकादेव आद्युदात्तः।

'**मा मा हिंसी**'[६९] इत्यत्र मा इति पदद्वयम्। एको माङ्शब्दो निषेधार्थकः। अपरश्च अस्मदर्थे भवति। मन्त्रे प्रथमो द्वितीयश्च शब्दः कीदृश इति जिज्ञासायां विवेच्यते यत् '**निपाता आद्युदात्ताः**'[७०] इत्यनेन निपातत्वाद् निषेधार्थको मा आद्युदात्तः। अस्मदर्थे यो माशब्दः, स '**त्वामौ द्वितीयायाः**'[७०] इत्यनेनानुदात्तः। अधुना स्पष्टं जातम्, य उदात्तो मा शब्दः स निषेधार्थकः। यशचानुदात्तः स अस्मदर्थको भवति। एवं वेदार्थे पदे पदे स्वरसाहाय्यम् अपेक्षते।

सन्दर्भसूची :-

१. व्याड़िरचितविकृतवल्ली-१/५ ?
१. महाभा.-१/१/१
३. वाक्यपदीय.-२/३१७-३१८
४. अमोघनन्दिनी शि.-११२, पा.शि.-५२, महाभा.-१/१/१
५. अष्टा.-६/१/२२३
६. अष्टा.-६/२/१
७. महाभा.-१/१/१
८. निरु.-१/१८
९. निरु.-१/१८
१०. स्वरानु.-१/८/२
११. ऋक्.-१/५/२ अ
१२. अष्टा.-३/१/४
१३. ऋक्.-१/१२७/९ स.-८
१४. अष्टा.-३/१/४
१५. स्वरानु.-१/८/३-४
१६. ऋग्वेदे १/९/९ स
१७. ऋग्वेदे १/११/२ द
१८. ऋग्वेदे-६/२३/३ अ
१९. ऋग्वेदे १/२२/५ स
२०. स्वरानु.-१/८/८
२१. ऋग्वेदे ५/३४/६ स
२२. ऋग्वेदे ८/१७/१४ स
२३. वैदिकस्वरमीमांसा, पृ.-५९
२४. तदेव पृ.-४२६
२५. तदेव पृ.-७३५
२६. तदेव पृ.-५०१
२७. तदेव पृ.-५२८
२८. तदेव पृ.-५६९
२९. तदेव पृ.-५८३
३०. अष्टा.-१/१/२५
३१. अष्टा.-३/२/७६
३२. स्वरा.-१/४/११
३३. निरु.-४/२५
३४. स्वरा.-१/१/२२
३५. स्वरानु.-१/१/२२
३६. स्वरा.-१/२/२४-२५
३७. स्वरानु.-१/३/३
३८. ऋग्वेदे-१/४/१ अ
३९. ऋग्वेदे-१/१५/७ अ
४०. स्वरानु.-१/३/५
४१. ऋग्वेदे-१/२४/५ अ
४२. ऋग्वेदे- १/३/५ ब
४३. ऋग्वेदः
४४. स्वरानु.-१/३/२३
४५. स्वरानु.-१/४/२
४६. ऋग्वेदे-१/३/९ अ
४७. ऋग्वेदे-१/३६/१४ ब
४८. ऋग्वेदे-३/५३/१२ स
४९. स्वरानु.-१/४/५
५०. ऋग्वेदे-१/१८/४ अ
५१. ऋग्वेदे-१/३४/१२ ब
५२. स्वरानु.-१/४/९
५३. स्वरानु.-१/४/१०-११
५४. स्वरानु.-१/५/२-३
५५. अष्टा.-६/२/१
५६. अष्टा.-६/१/२२३
५७. ऋग्.-५/६४/१ अ
५८. स्वरानु.-१/६/५-६
५९. स्वरानु.-१/६/७
६०. स्वरानु.-४/१/२५
६१. स्वरानु.-८/४/१०
६२. सायणाचार्यः
६३. यजु.-१/१८
६४. अष्टा.-४/१/४४
६५. अष्टा.-४/१/१४५
६६. अष्टा.-६/१/१७९
६७. अष्टा.-६/१/१९७
६८. यजु.-३/६३
६९. फिट्सू.-४/२
७०. अष्टा.-८/१/२३

-सहायकाचार्यः, व्याकरणविभागः,
श्रीभगवानदास-आदर्श-संस्कृतमहाविद्यालयः
(हरिद्वारम्)

ज्योतिषशास्त्रस्य वैज्ञानिकत्वम्

❑ डॉ. चन्द्रकान्तः...✍

संस्कृतवाङ्मयं हि विश्ववाङ्मयसमुदाये मूर्धन्यमिति न कस्यापि विमतिः। सृष्टौ चैतन्यस्य मुख्यत्वेनैव कार्यसञ्चालकत्वं वर्तते। तत्र स्थावरजीवधारिभ्योऽधिकं जङ्गमप्राणिषु चैतन्यं, जङ्गमप्राणिभ्योऽपि (पशुभ्यः) वैशिष्ट्यपूर्णं चेतनावत्वं मानवेषु विद्यते। मानव एव महनीयेऽस्मिन् जगतीतले पुरुषार्थचतुष्ट्यस्य साधको भवति। धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थस्य प्रतिपादकाः वेदा एव। विद् ज्ञाने, विद् लाभे, विद् विचारणे इत्यस्मात् धातोः घञि प्रत्यये कृते सति निष्पन्नोऽयं वेदशब्दः। ऋक्-यजु-साम-अथर्वाख्या चत्वारः वेदाः चतस्रः मूलसंहिता वा विद्यन्ते। तत्र ऋग्वेदस्य एकविंशतिः शाखाः, यजुर्वेदस्य शुक्लभागे पञ्चदश कृष्णभागे च षडशीतिरिति एकोत्तरशतं शाखाः, सामवेदस्य सहस्रशाखाः, अथर्ववेदस्य च नवविधशाखाः सन्ति। एतासां शाखानां प्रत्येकं ब्राह्मणग्रन्थाः, आरण्यकानि, उपनिषदश्चेति सन्ति। मूलसंहितानां प्रत्येकं पुनरुपवेदाः क्रमेण आयुर्धनुर्गान्धर्वार्थाख्याः सन्ति।

वेदार्थज्ञाने तत्कर्मकाण्डस्य च प्रतिपादने तथाविधसाहाय्यप्रदाने च सक्षमं सार्थकञ्च यच्छास्त्रं तमेव वेदाङ्गमिति। अतः वेदार्थमवबोधनाय तत् स्वराद्यावगमनाय च केषाञ्चित् सहायकग्रन्थानामावश्यकता जाता। तदर्थमेव भावपूर्त्यर्थं वेदाङ्गानामुत्पत्तिः जात। वैदिकसाहित्यमतीव विस्तरम्, तत्र शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिषञ्चेति वेदस्याङ्गानि सन्ति। भारतीयज्ञानविज्ञानेष्वनन्यतमं प्राचीनतमञ्च विज्ञानं ज्योतिषशास्त्रमेव। वेदाङ्गेषु ज्योतिषशास्त्रस्य स्थानं न केवलं विशिष्टमपित्वन्यशास्त्रापेक्षया आवश्यकं महत्त्वपूर्णञ्च विद्यते। वेदे प्रतिपादितानां यज्ञादिकार्याणां सकलशुभकर्मणां कालाधीनत्वात् तस्य च ज्योतिषशास्त्रादेव सम्यगवबोधनत्वात् ज्योतिषशास्त्रस्य वेदाङ्गत्वं सुप्रसिद्धमेव विद्यते। वैदिकयज्ञविधाने विशिष्टसमयस्य ज्ञानमपेक्षितमस्ति। यज्ञ-यागादीनां कृते समुचितसमयः वर्ष-मास-ऋतु-तिथि-नक्षत्र-योग-दिन-रात्र्यादीनां मानं ज्योतिषशास्त्रेणैव ज्ञायते। उक्तनियमानां ज्ञानाय ज्योतिषशास्त्रस्य ज्ञानं नितरामावश्यकम्। भास्कराचार्येणापि सिद्धान्तशिरोमणौ उक्तम्-

वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण। शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात्॥[१]

वैदिककालादेवास्य शास्त्रस्य महत्त्वमुपयोगित्वञ्चास्माभिरनुभूयते। गणितान्तरिक्षभूगर्भ-कृषिवृष्ट्यादि-विभिन्नानां विज्ञानानां सर्वप्रथमं प्रयौगिकं विवेचनं ज्योतिषशास्त्रेणैव विश्वेऽस्मिन् सुप्रतिष्ठितम्। ज्योतिषशास्त्रं स्वकीयाद्भुतबलेन विशिष्टाज्ञानसरण्या चाद्यापि शास्त्रेषु गौरवमयं स्थानमलङ्करोति। ज्योतिषशास्त्रानुसारेण समग्रब्रह्माण्डमिदं कालप्रवाहेण प्रवाहितः परिचालितञ्च। कालं विहाय कोऽपि क्षणमपि जगति स्थातुं न शक्नोति। अयं वेदवेदाङ्गेष्वपि परमब्रह्मरुपेण सुप्रसिद्धोऽस्ति। शास्त्रस्यास्य मुख्यप्रयोजनं शुभाशुभकालनिरुपणमेव यतोहि कर्मशाखायां वेदस्यावश्यकता मुख्यतया लोककल्याणाय यागादीनां सम्पादनार्थमेव भवति। अत एव कालाश्रितानां यागानां वेदविहितमार्गप्रवृत्तये कालबोधजनकमिदं शास्त्रमध्ययनीयम् अनध्ययने सति श्रुतिरुद्देश्य- रहिता स्यादिति। शास्त्रविहितेषु उपयुक्तकालेषु धर्मानुकूलव्यापारसम्पाद्य जनाः सुखयशोभिर्युक्ताः बलशालिनश्च भवन्ति। यथोक्तं नारदसंहितायाम् -

विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्त्तं कर्म न सिद्ध्यति ।

तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा ॥[२]

आचार्यलगधेन **'ज्योतिषं मूर्ध्नि संस्थितम्'**[३] एवञ्च सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्येण **'चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः'**[४] इत्युक्तवचनात् शास्त्रस्यास्य स्थानं वेदाङ्गेष्वनन्यतमं निरूपितं ज्योतिर्विदैः। भारतीयज्योतिषशास्त्रस्य वैज्ञानिकं स्वरुपमुद्भवकालादेव स्वतः सिद्ध्यति। इदं तादृशमादर्शविज्ञानं यत् केनापि नियमविशेषेण चलितुं न बाधते, अपितु प्रतिपदं दिग्दर्शनं कारयित्वा जीवनस्य सर्वविधानां सम्भाव्यमानानां विघ्नानां शास्त्रोक्तनियमेन निवारणपूर्वकमभ्युदयमार्गं प्रस्फुटयति।

शास्त्रस्यास्य विकासः न केवलं विज्ञानरुपेणैव सञ्जातः, अपितु क्रमबद्धविशिष्टं ज्ञानमेवञ्च ज्योतिषविषयाणां वैज्ञानिकत्वं प्रत्यक्षतया परोक्षेण तत्र निहितमेव। इदं विज्ञानातिरिक्तं स्वीयं शास्त्रीयमपि स्वरुपं प्रतिपादयति। सम्प्रति सृष्ट्युत्पत्तिविषये आधुनिकानां सर्वमान्यानां वा या बिंग-बैंगसिद्धान्तः प्रचलितोऽस्ति, तस्या वास्तविकं मूलञ्च स्वरुपं ज्योतिषीयग्रन्थेषु निहितोऽस्ति। वर्तमानपरिप्रेक्ष्ये इयं धारणा व्यापृताऽस्ति यत् भूमेः स्वाक्षोपरिभ्रमणस्य सिद्धान्तः पाश्चात्यवैज्ञानिकैः षोडशशताब्द्यामाविष्कृतं परञ्च पञ्चमशताब्द्यां आर्यभटद्वारा पूर्वमेव विषयेऽस्मिन् सङ्केतितः। अनेन प्रकारेण बहुभिरुदाहरणैः ज्योतिषशास्त्रस्य वैज्ञानिकतायाः यथार्थता सिद्ध्यति, येषु केषाञ्चन तथ्यानां विश्लेषणं कृत्वा संक्षिप्तं विवेचनमधः प्रस्तूयते -

सृष्ट्युत्पत्तिपरिकल्पना -

सम्प्रति सृष्टिसिद्धान्तविषये आधुनिकानां सर्वमान्या या बिगबैंगसिद्धान्तः प्रचलिताऽस्ति तस्या वास्तविकं मूलञ्च स्वरुपं सूर्यसिद्धान्तादीनां स्वर्णगर्भसिद्धान्ते निहितोऽस्ति। तत्र वैदिकवाङ्मयस्य हिरण्यगर्भसूक्तम्, सूर्यसिद्धान्तस्य स्वर्णगर्भसिद्धान्तस्य अनिरूद्धपरिकल्पना, भास्कराचार्यस्य प्रकृतिपुरुषयोः संकर्षणरुपः परिकल्पना एव सृष्ट्युत्पत्तिकारकः आधुनिकानां बिगबैंगसिद्धान्तोऽस्ति येन सृष्ट्युत्पत्तिः संजाता, तेषामनुसारेण सृष्टिविषयकं ज्ञानमद्यावधि निर्भ्रान्तं नास्ति, अपितु तत्रापि मतान्तराणि दृश्यन्ते। तत्र सृष्ट्युत्पत्तिर्विषये बृहत्पराशरहोराशास्त्रस्य सृष्टिकथनाध्याये आचार्यैः प्रोक्तम्, यत् -

अनिरूद्धात् स्वयं जातो ब्रह्माहङ्कारमूर्तिधृक् ।
सर्वेषु सर्वशक्तिञ्च स्वशक्त्याऽधिकया युतः॥[५]

अनेनैव प्रकारेण भास्कराचार्येणापि सिद्धान्त-शिरोमणौ निगदितम्, यत्-

यस्मात्क्षुब्धप्रकृतिपुरुषाभ्यां महानस्य गर्भेऽहंकारो भूत्खकशिखिजलोर्व्यस्ततः संहतेश्च। ब्रह्माण्डं यज्जठरगमहीपृष्ठनिष्ठाद्विरञ्चेर्विश्वं शश्वज्जयति परमं ब्रह्म तत्तत्त्वमाद्यम् ॥[६]

विषयस्यास्य गम्भीरानुशीलनेन स्पष्टतया प्रतिभाति, यत् महाविस्फोटसिद्धान्तस्य मूलं सूर्यसिद्धान्तादिज्योतिषशास्त्रस्य ग्रन्थेषु पुराणादिषु भारतीयदर्शनशास्त्रेषु च पुरातनकालादेव प्राप्यते। अतोऽयं सिद्धान्तो वास्तविकतया भारतीयानामविष्कार इति।

मूर्त्तामूर्त्तकालः-

सर्वविद्यामूलवेदस्य षडङ्गेषु नेत्ररुपत्वात् इदं शास्त्रं शास्त्रत्वेन यज्ञसाधननिमित्तं शुभाशुभकालं श्रौतस्मार्त्तक्रियाणाञ्च कालानुरोधेन नियमनं करोति। तत्रैव विज्ञानपरकत्वेन सूक्ष्मतया कालव्यवस्थापि वैज्ञानिकरीत्या ग्रह-नक्षत्रादीनां यथार्थस्थितिद्वारा संचालयति। इदं भारतीयकालव्यवस्था विश्वेऽस्मिन् सर्वतो प्राचीना सूक्ष्मतमा चास्ति। अत्र शास्त्रेऽस्मिन् कालस्य लघुतमं मानं त्रुटिः सैकेण्ड इत्यस्य १/३२४००० तमो भागो भवति। अद्यावधि अस्यां व्यवस्थायां कोऽपि दोषो न समागतः।

भूभ्रमणपरिकल्पना-

सम्प्रतिसमाजे इयं धारणा व्यापृताऽस्ति यत् भूमेः स्वाक्षोपरिभ्रमणस्य सिद्धान्तः केपलरनामकेन वैदेशिकेन षोडशशताब्द्यां प्रतिपादितः, परन्तु पञ्चमशताब्द्यां पूर्वमेवार्यभट्टेन स्वकीय-आर्यभट्टीये

ग्रन्थे स्पष्टतया भूभ्रमणसिद्धान्तस्य परिचर्चा कृता। तत्रोक्तं यत् –

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्॥

तत्रैव आर्यभट्टीये ग्रन्थे 'प्राणेनैति कलां भूः' इत्यादिना भूमेः गतिः दिवसे **२४** होरायाम् **३६००** अंशात्मिका प्रतिपादिताऽस्ति। अर्थात् अहोरात्रे पृथिव्याः अक्षभ्रमणमेकं भवतीति।

अत्र **२४** होरात्मकम् = **१** अहोरात्रम्
१ होरा = **६०** मिनटात्मकम्
४ मिनटात्मकम् = **१** अंशात्मकम्

अतः **२४×६०×१४४०** अहोरात्रे मिनटात्मकं कालः। **१४४०/४=३६०** अंशात्मकं कालः अहोरात्रे।

भूमेराकर्षणसिद्धान्तः –

भूमेः आकर्षणसिद्धान्तस्य प्रतिपादनश्रेयः सप्तदशशताब्द्यां समुत्पन्नो न्यूटनमहोदयः नामक आग्लदेशीयो विद्वान् गृह्णाति, परन्तु अस्यापि मूलरुपेण प्रतिपादनं भास्कराचार्येण द्वादशतमायां शताब्द्यामेव सिद्धान्तशिरोमणौ ग्रन्थे पूर्वमेव प्रतिपादितम्। तत्रोक्तं यथा –

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरुं
स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव
भाति समे समन्ताद् क्व पतत्वियं खे ॥[९]

अत्राशयोऽयं वर्तते, यत् पृथिव्यामाकर्षणशक्तिरस्ति, यया आकाशस्थ गुरुपदार्थास्तया शक्त्या स्वाभिमुखमाकृष्यमाने पततीव प्रतिभान्ति। वयं पश्यामो यच्छाखातः त्रुटितं फलं पत्रं वा ऋजुरेखायां भूतलोपर्येवापतति। शरोऽपि वेगाभावे भूतलोपर्येव समापतति। इमे सर्वे पदार्थाः किमर्थं भूतलोपर्येवापतन्ति। किन्नामकं वस्तु एतान् पदार्थान् सर्वान् भूम्युपर्येवापातयति? प्रश्नस्योत्तरमिदमेव यत्पृथ्वी सर्वान् जागतिकपदार्थान् स्वात्मानं प्रत्याकर्षयति। प्राचीनभारतीयाचार्याणामपि तथ्यमिदमस्यां भाषायां सुव्यक्त्यन्ति स्म, यत्सम्पूर्णाकाशीयपिण्डानि ब्रह्माण्डकेन्द्रं प्रति समाकृष्टानि भवन्ति। तत्केन्द्रञ्च पृथिव्या एव मध्यबिन्दुरस्ति। अस्याः घटनायाः कारणं तु पृथिव्यां विद्यमानमाकर्षण-शक्तिमेव मन्यन्ते स्म।

भूपरिधिमानम्–

भास्कराचार्येण स्वग्रन्थे लीलावत्यां प्रदत्तं परिधि व्यासयोः सूक्ष्मतमं मानमद्यापि स्वीयामावश्यकतां सिद्धयति, यतोहि ततः सूक्ष्मं न कमपि मानमाधुनिकैरपि निर्धारितम्। तत्र व्यावहारार्थं **२२/७** सूक्ष्मं च **३९२७/१२५०** परिधिव्यासयोः सम्बन्धः निरूपितोऽस्ति। तत्रोक्तं यत् –

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैः
परिधिः च सूक्ष्मः। द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽयशैलेः
स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः॥

व्यक्ताव्यक्तगणितम्–

भारतीयज्योतिषशास्त्रमपि प्राचीनतमं विज्ञानं गणितमूलकं प्रयोगमूलकञ्चास्ति, गणितं विना कस्यापि स्वल्पमपि कार्यं न सिद्धयति, अतः सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्येण ज्योतिषशास्त्रस्य अध्ययनयोग्यता प्रतिपादयन् प्रोक्तं यत् –

द्विविधगणितमुक्तं व्यक्तमव्यक्तयुक्तं
तदगमनवनिष्ठः शब्दशास्त्रे पठिष्ठः। यदि भवति
तदेदं ज्योतिषं भूरिभेदं प्रपठितुमधिकारी
सोऽथवा नामधारी॥[११]

अनेन ज्योतिषशास्त्रस्य गणितमूलकत्वमेव सिद्धयति। इयं गणितपरम्परा आधुनिकगणितविषयक-सिद्धान्तानां मूलरुपा विद्यते। वेदेषु, शुल्बसूत्रेषु, गृह्यसूत्रेषु च संख्यावाचकशब्दानां यज्ञकर्मणि रेखागणितीय-सिद्धान्तानाञ्च उपस्थितिः तां प्रमाणयति। यद्यपि अत्र बीजरुपेण सर्वे वैज्ञानिकविषयाः उपनिबद्धाः परन्तु ब्रह्माण्डे स्थितानां पिण्डानां गतिस्थित्यादीनां ज्ञानं गणितेन तेषां साधनं क्रियते एवं यन्त्रेण प्रायोगिकपरीक्षणं

प्राप्तपरिणामेन च लोके शुभाशुभनिरुपणमेव अस्य शास्त्रस्य मुख्योद्देश्यमस्ति।

ग्रहणस्य कारणम्-

पुराणादिषु ग्रहणकारकेषु राहुकेतू निरूपितौ स्तः, परन्तु वस्तुतः सूर्यग्रहणं चन्द्रपिण्डस्य अवरोधवशात् चन्द्रग्रहणञ्च भूभाववशात् भवति। अत्रापि चन्द्रसूर्ययोः भ्रमणवृत्तयोः सम्पातौ राहुकेतूसंज्ञकौ ग्रहणस्य कारकौ च भवतः। अतः पूर्वाचार्यैः ज्ञानविज्ञानयोः सामञ्जस्यं स्थापयित्वा प्रोक्तं यत् -

दिग्देशकालावरणादिभेदान्नाच्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति। तन्मानिजः केवलगोलविद्यास्तत्संहिता वेदपुराण बाह्यम् ॥

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं
शशाङ्कगच्छादयतीन बिम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्
सर्वागमानमविरूद्धमेतत् ॥[१२]

खगोलान्तर्गतं चान्द्र-सौर-सावन-नाक्षत्रादि-मानानि ग्रहाणां भगणाः, ग्रहगतयश्च स्वयमेव प्रमाणभूताः सन्ति। वायुवर्षाविषये संहितोक्तनियमेन मेघगर्भधारणा-सहितं तद् वर्षणकालः तेषां लक्षणञ्च वृष्टिविषयकं चमत्कारिकं परिणामं जनयति। अनेन कृतादेशः प्रायेण सत्यतामनुसरति।

ज्योतिषशास्त्रेण मानवस्य बहुविधकार्यस्य सिद्धिः जायते। कृषिकर्मणि बीजवपनादारभ्यः सस्यकर्तनं यावत् ज्योतिषशास्त्रस्यावश्यकता पदे-पदे अनुभूयते। एवञ्च ग्रहग्रहणसंक्रान्तियज्ञव्रतोद्ववाहादिक्रियाणां सिद्धिः निर्णयश्च ज्योतिषशास्त्रेणैव सम्भवति। यथोक्तम्-

ग्रह-ग्रहण-संक्रान्तिर्यज्ञाध्ययनकर्मणाम् ।
प्रयोजनं व्रतोद्ववाहक्रियाणां कालनिर्णयः॥[१३]

ज्योतिषं ग्रह-नक्षत्रादीनां बोधकशास्त्रमस्ति, अत एव ज्योतिष्मतां पदार्थानामध्ययनमत्र क्रियते। वस्तुतस्तत्र ग्रह-नक्षत्राणां पृथिव्या दूरवर्त्तित्वम्, तेषां प्रकाशाकर्षणादि-बोधः, प्राणिनामुपरि तेषां प्रभावः, तद्वशेन संसारस्य शुभाशुभफलपरीक्षणं ग्रहणञ्च, श्रृङ्गोन्नतिः, ग्रहोदयास्तम्, छाया, देशान्तराक्षांशादिज्ञानञ्च साधुतया वेधादिपरीक्षणविधिना क्रियते। वेदाङ्गत्वात् अस्याध्ययनाध्यापनं न केवलं ज्ञानाय अपितु धर्मिकदृष्टयाऽपि भवति। अस्य शास्त्रस्य सर्वप्रधानविषयः ग्रहस्पष्टीकरणमेव कथन्तु अनेनैव भूतभविष्यद्वर्तमान-कालस्य गुणप्रभातत्वमर्थज्ञानम्, शुभाशुभफलनिर्णयञ्च सम्भवति। ज्योतिषशास्त्रं वेदाङ्गत्वेन वेदचक्षुष्ट्वेन सकलैः एव अध्येयमस्ति इति बुधैरनुशास्यते।

अतः अध्ययनाध्यापनेन चास्य समस्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-सुयशसां प्राप्तिः सम्भवति।

सन्दर्भ-सूची :-

१. सिद्धान्तशिरोमणिः गणिताध्यायः, मध्यमाधिकारः, श्लोक. ९
२. नारदसंहिता, अ0 ९, श्लोक. ६
३. मुहूर्त्त चिन्तामणि १.२ पीयूषधारा टीका
४. सिद्धान्तशिरोमणिः गणिताध्यायः, मध्यमाधिकारः,श्लोक. ११
५. बृहत्पराशरहोराशास्त्रम् १.१७
६. सिद्धान्तशिरोमणिः गोलाध्यायः भुवनकोषः श्लोक.1
७. आर्यभट्टीयम् गोलपादः श्लो. ९
८. आर्यभट्टीयम् गीतिकापादः श्लो. ६
९. सिद्धान्तशिरोमणिः गोलाध्यायः भुवनकोषः श्लो. ६
१०. लीलावती क्षेत्रव्यवहारः श्लोक. ४२
११. सिद्धान्तशिरोमणिः गोलाध्यायः, गोलप्रशंसा श्लोक. ७
१२. सिद्धान्तशिरोमणिः गोलाध्यायः ग्रहणवासना श्लोक. ९-१०

- सहायकाचार्यः,
ज्योतिषविभागः,
मेवाड़विश्वविद्यालयः,
गंगरारम्, चित्तौड़गढ़ः
(राजस्थानः)-३१२९०१

अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।

सूत्रसाहित्य में सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था

❑ डॉ. वीना विश्नोई शर्मा...✍

वैदिकसाहित्य की श्रृंखला में सूत्र साहित्य या वेदांग अन्तिम चरण है। सूत्र का अर्थ है 'अल्प शब्दों में व्यापक तथा विपुल अर्थों का सन्निवेश करना',वेदांग छः हैं– शिक्षा, कल्प, व्याकरण ,निरुक्त , छन्द एवं ज्योतिष। इन छः अंगों के समूह को षड् वेदांग कहते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना–अपना महत्व है। पाणिनि ने इन सभी अंगों का महत्व पुरुष रुपक में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि वेद रुपी पुरुष के छन्द दो पैर हैं , कल्प दोनों हाथ हैं, ज्योतिष चक्षु हैं, निरुक्त श्रोत्र हैं, शिक्षा नासिका है व व्याकरण मुख है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में सभी अंगो का अपना–अपना विशिष्ट स्थान है, दूसरा कोई अंग उसका स्थान नहीं ले सकता, उसी प्रकार वेदों के पूर्ण अर्थ को समझने के लिए प्रत्येक अंग का अपना–अपना महत्व है। इस युग में गृह्यसूत्रों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था का विशेष परिज्ञान होता है।

सामाजिक व्यवस्था –

धर्मसूत्रों में समाज को प्राणवान इकाई के रुप में ग्रहण किया गया था, व्यक्ति का नहीं, समाज का उत्कर्ष और अभ्युत्थान ही उस समय का चरम लक्ष्य था।

परिवार – पारिवारिक कर्तव्यों तथा गृहस्थ के लिए विहित यज्ञों की विवेचना गृह्यसूत्रों व धर्मसूत्रों का प्रमुख विषय रही है–

युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च।[१]

उत्तर वैदिक युग में संयुक्त परिवार होने पर भी पारिवारिक क्लेश बढ़ने लगे थे जिनके कारण संयुक्त परिवार प्रणाली में विघटन प्रारम्भ हो गया था। गृह्यसूत्रों में गार्हपत्याग्नि को प्रज्वलित करने के विभिन्न अवसरों और वैश्वदेव बलि के नियमों का वर्णन है–

सविधिपूर्वकं स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्तवान्
गृहस्थधर्मान् प्रयुञ्जान इमानि व्रतान्यनुकर्शेत्॥[२]

उससे छोटे परिवारों का निश्चित प्रमाण मिलता है। सारा परिवार भले ही एक घर में रहता हो, किन्तु रसोई अलग–अलग बनने लगी थी। पुत्र जन्म की बहुत कामना की जाती थी। पुत्र जन्म पर अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए बारह विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी अर्थात् पुरोडाश वैश्वानर को अर्पित की जाती थी। जमे हुए दूध और घी की हवि से हवन किया जाता था। बालक का पिता दही, मधु और घी को स्वर्ण से मिश्रित करके बालक को चटाता था तथा भूः, भुवः, स्वः को बालक में स्थापित करने की भावना करता था–

कुमारं जातं पुरा अन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी
हिरण्यनिकाशं हिरण्येन प्राशयेत्।[३]
ओं भूस्त्वयि दधामि । ओं भुवस्त्वयि दधामि॥[४]
ओं स्वस्त्वयि दधामि। ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि
दधामि॥

पिता का भुक्तावशिष्ट पुत्र द्वारा खाए जाने से गृहपति के प्रति सम्मान भावना की सूचना मिलती है। परिवार में अतिथि को बहुत आदर योग्य माना जाता था।[५]

वर्ण एवं आश्रम – इस युग के सूत्रों में वर्णव्यवस्था का कठोर और जटिल स्वरुप उपलब्ध होता है।ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ गया था, वे किसी भी प्रकार के कर से मुक्त होते थे व अनिवार्यता होने पर राजा भी बन

सकते थे। किन्तु क्षत्रिय पुरोहित नहीं बन सकते थे। समाज में वैश्य व शूद्र के स्थान का अपकर्ष हो गया। गृह्यसूत्रों में ही अस्पृश्यता का प्रारम्भिक रुप मिलता है।

शासकीय विधान व दण्डनीति में वर्णगत भेद स्पष्टतया उभरकर सम्मुख आता है। यही वह युग है जब वर्णों के पारस्परिक सम्मिश्रण से और व्यवसायों के बढ़ जाने से नई–नई जातियाँ बनने लगीं।सूत्रकाल में आश्रमव्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो गई थी।[६] सम्पूर्ण सूत्र साहित्य में चारों आश्रमों का सुव्यवस्थित व सांगोपांग वर्णन मिलता है।[७]

नारी स्थिति–

सूत्रकाल को उत्तर वैदिक युग कहा जा सकता है। इस युग में नारी की स्थिति बहुत कुछ उत्तर वैदिक युग जैसी ही रही। कुछ ग्रन्थों में स्त्री की प्रशंसा प्राप्त होती है तो अन्य कतिपय ग्रन्थ स्त्री की विविध निन्दा करते दिखाई देते हैं। अनुलोम विवाह, 'जिसमें उच्चवर्ण का पुरुष निम्न वर्ण की स्त्री' समाज में प्रचलित हो गये थे, अतः परिवारों में विभिन्न वर्ण की स्त्रियाँ एक ही पुरुष की पत्नी बन कर रहती थीं। उच्च और निम्न वर्ण की स्त्रियों के इस पारस्परिक सम्मिलन ने स्त्रियोचित शालीनता और सम्मान को स्वभावतः निम्नतर बना दिया तथा समाज में स्त्री का स्थान अवनत हुआ।

विवाह -

इस युग में विवाह के आठों प्रकार प्रचलित हो गये थे। लगभग सभी धर्मसूत्रों तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र ने इन आठ प्रकारों का उल्लेख किया है। कन्या का विवाह किस आयु में हो सकता था– इस विषय में इस युग की परस्पर विरोधी धारणाएँ मिलती हैं।

गृह्यसूत्रों ने विवाह विधि में त्रिरात्र व्रत का विधान किया था । विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद पति गृह में वधू के आजाने पर भी वर वधू को यह त्रिरात्र व्रत पालन करना पड़ता था। इसमें वर वधू लवण एवं क्षारयुक्त भोजन नही करते थे, भूमि पर शयन करते थे, केवल दुग्ध पान करते थे और सहवास से दूर रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।[८] इन त्रिरात्र व्रत से स्पष्टतया ध्वनित होता है कि उस युग में कन्या का विवाह युवावस्था में होता था। किन्तु इसके साथ ही कतिपय गृह्यसूत्रों ने विवाह योग्य कन्या का एक लक्षण नग्निका बताया है–

ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत् सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्राम्।[९]

नग्निका तु श्रेष्ठा[१०]

कालान्तर में टीकाकारों ने इस नग्निका शब्द की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं , जो अधिकांशतया कन्या की विवाह योग्य आयु आठ से दस वर्ष ठहराती हैं। इस सारे विवेचन से एक निष्कर्ष स्पष्टतः उभर कर सम्मुख आता है कि उपनिषदों व प्रारम्भिक सूत्रों के इस युग में भी स्त्रियों का विवाह युवावस्था में ही होता था किन्तु समाज में छोटी उम्र में कन्याओं का विवाह कर देने की प्रवृत्ति का भी सूत्रपात हो चुका था। विवाह में धन का महत्व भी इस युग में बढ़ने लगा। विवाह के आसुर प्रकार में कन्या के माता–पिता वर पक्ष से धन ले लेते थे –

वित्तेनानतिः स्त्रीमतामासुरः[११]

ब्राह्म और दैव विवाह प्रकारों में कन्या का पिता अपनी पुत्री को भली भाँति अलंकृत करके विवाह करता था –

ब्राह्मी विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यादाच्छाद्यालंकृताम्।[१२]

अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवो अलंकृत्य।[१३]

इस तथ्य से यौतुक अर्थात् दहेज प्रथा प्रारम्भ होने के भी संकेत प्राप्त होते हैं।

पर्दा प्रथा और सती प्रथा की स्थिति इस युग

में भी उत्तर वैदिक जैसी रही। सार्वजनिक समारोह में अथवा पुरुषों की सभाओं में सामान्यतया स्त्रियाँ भाग नही लेती थीं। विधवा का पुनर्विवाह सम्भव था – इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक सती प्रथा का प्रारम्भ नही हुआ था।

स्त्री के धार्मिक अधिकार भी उत्तर वैदिक युग के सदृश रहे। पति की अनुपस्थिति में अथवा पति के कार्यव्यस्त होने पर पत्नी ही प्रातःकालीन एवं सांयकालीन पूजा अर्चना सम्पन्न करती थी। फिर भी प्रमुख यज्ञों व धार्मिक कार्यों में पत्नी के स्थान पर पुरोहित को वरीयता देने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी।

सामान्यतया इस युग में परिवार में स्त्री का स्थान सम्मानजनक था।

शिक्षा –

शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पर्याप्त सन्तोषजनक रही। उत्तर वैदिक युग की भॉति ही वे विभिन्न प्रकार की शिक्षा ग्रहण करती थीं। उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन प्रारम्भ होता था और छात्र गुरुकुल में निवास करते थे। पाठ्यक्रम में केवल वेद या छःवेदांग मात्र ही नही पढ़ाये जाते थे अपितु पाठ्य विषयों की एक लम्बी सूचि उपलब्ध होती है, उस समय शारीरिक शिक्षा भी अनिवार्य थी।

आहार –

इस समय चावल तथा जौ मुख्य भोजन थे। माष, मुद्ग, सर्पष आदि उपलब्ध थे। अन्न को कूटकर, पीसकर या भूनकर अनेक प्रकार से खाया जाता था। पाककला इस समय तक बहुत विकसित हो गई थी।

वसन, आभूषण तथा मनोरंजन–

स्त्री तथा पुरुष दोनो ही उत्तरीय तथा अन्तरीय ये दो मुख्य वस्त्र पहना करते थे। ब्रह्मचारी मृग या बकरे के चर्म को उत्तरीय के रुप में धारण करते थे। विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए अलग–अलग रंगों के वस्त्रों का विधान प्राप्त होता है। ब्रह्मचारी की वेशभूषा का विस्तृत विवरण गृह्यसूत्रों में प्राप्त है। सूत्र युग में विभिन्न प्रकार के अंगरागों, लेपनों, अंजन, सुवासित श्रृंगार सामग्री आदि का प्रचुर प्रयोग किया जाता था। चूड़ाकर्म तथा गोदान संस्कार तत्कालीन क्षौर कर्म पर बहुत प्रकाश डालते हैं। इस युग में आमोद – प्रमोद के साधन वेद के समान ही थे जिनमें विविध प्रकार की दौड़, द्यूत, गीत, नृत्य तथा वाद्य ही प्रमुख रहे।

राजनीतिक व्यवस्था –

धर्मसूत्रों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति विशेषतः प्रतिबिम्बित हुई है। परवर्ती युग के अर्थशास्त्रों तथा धर्मशास्त्रों की भाँति इनमें शासन तन्त्र एवं शासन विधि का व्यवस्थित एवं सांगोपांग चित्रण तो नहीं मिलता, ओर न ही इन धर्मसूत्रों में प्रस्तुत राजतन्त्र या राजनीति की अवधारणा वर्तमान युग से मेल खाती है। फिर भी पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा इस युग की राजनैतिक दशा को ये धर्मसूत्र भलीभॉति प्रदर्शित कर देते हैं। इन धर्मसूत्रों में राजा हो या प्रजा सभी के कर्तव्यों का निर्धारण धर्म के रुप में किया गया था। महत्व कर्तव्य का था अधिकार का नहीं। इन कर्तव्यों का सफल पालन ही मनुष्य का चरम ध्येय था और उसी से वह मोक्ष प्राप्त कर सकता था। कर्तव्य और धर्म की पृष्ठभूमि में धर्मसूत्रों में शासन और राजनीति का विवेचन हुआ है।

इस काल तक राजपद निश्चित रुप से वंशानुगत हो गया था। राजा की मृत्यु के बाद सिंहासन पर राजपुत्र का अभिषेक किया जाता था , किन्तु उत्तरवैदिक युग की ही भॉति राजा के प्रमाद करने अथवा पथभ्रष्ट होने पर उसे पदच्युत भी किया जा सकता था। कतिपय सूत्रों में ऐसे अनेक अभिचार मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग सिंहासनच्युत राजा अपने राज्य की पुनः प्राप्ति के

लिए किया करते थे।

jktk d: dr0; &

धर्मसूत्रों से राजा के जीवन और कर्तव्यों का विशद स्वरुप जाना जा सकता है। राजा के लिए गहन शास्त्राभ्यास, अनुशासन तथा सैनिक शिक्षा अनिवार्य थे। धर्म के अनुकूल विभिन्नवर्णों तथा आश्रमों की रक्षा करना, युद्ध में विजय प्राप्ति के उपायों की संरचना करना, अपनी प्रजा के प्रति निष्पक्ष रहकर कर्तव्य पालन कराना आदि राजा के कर्तव्य थे–

राज्ञो अधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ''[१४]

शासनतन्त्र –

शासन के कुशल एवं सफल संचालन के लिए राजा अपने पुरोहित की सहायता लेता था।[१५] युद्ध की समस्त तैयारियों और वास्तविक युद्ध के समय भी पुरोहित निरन्तर राजा के साथ रहता था और विभिन्न देवस्तुतियों और मन्त्रों के उच्चारण से राजा की सुरक्षा की कामना करता था। विभिन्न विवादास्पद विषयों पर राजा को मन्त्रणा देने के लिए प्रभावशाली तथा विद्वान ब्राह्मणों की[१६] एक परिषद् होती थी। इसमें प्रायः दस ब्राह्मण होते थे।[१७] इन सभी के लिए तर्कवितर्क में कुशल, अत्यधिक ज्ञान सम्पन्न तथा निष्पक्ष होना आवश्यक था।[१८]

इस परिषद् से मन्त्रणा करने के अतिरिक्त राजा शासकीय कार्यों के लिए अनेक अधिकारी नियुक्त करता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने यह व्यवस्था दी है कि ये अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के हों तथा पवित्र आचरण तथा सत्यवादी हों। राजा द्वारा नियुक्त ये अधिकारी पुनः अपने अधीन उत्तम गुण युक्त ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति करते थे जो नगर और ग्रामों की विभिन्न शासकीय समस्याओं को समझते और सुलझाते थे। सम्पूर्ण शासन तन्त्र का प्रमुख कार्य था कर व्यवस्था का उत्तम संचालन। बौधायन, गौतम तथा आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्रों में करों तथा करयोग्य वस्तुओं का विस्तृत विवरण दिया है।

युद्धकला –

इस युग में युद्ध कला अधिक विकसित हो गई थी। राजा युद्धों के लिए सदैव तत्पर रहते थे। राजा के लिए यह अपेक्षित था कि वह निर्भीक होकर अत्यन्त पराक्रम पूर्वक अपनी सेना के साथ स्वयं युद्धभूमि में जाए और अग्रणी होकर युद्ध करे। युद्ध के नियमों में उच्च्व नैतिकता का पालन किया जाता था।

न्याय व दण्डव्यवस्था –

इस काल में न्याय व दण्डव्यवस्था का भी एक स्थापित रुप प्राप्त होता है। समाज की शान्ति तथा मर्यादा को भंग करने वाला आचरण अपराध है और अपराध के लिए कुछ ना कुछ दण्ड होना ही चाहिए– इस मूल भावना के परिपोष के फलस्वरुप वस्तुतः धर्मसूत्रों ने ही नियमित विधि एवं दण्डनीति को प्रारम्भ किया। वेद स्मृति तथा वेदज्ञानी पुरुषों का नियमित आचरण ही न्याय व दण्ड निर्धारण के मुख्य साधन थे।[१९] घृणित अपराधों के लिए तपस्या तथा जातिबहिष्कार सर्वप्रचलित दण्ड था। राजा ही प्रमुख न्यायाधीश था और शास्त्रानुकूल तथा परम्परानुकूल न्याय किया करता था।[२०] अधि ाक उलझे हुए अपराधों तथा वादों पर परिषद् में मन्त्रणा होती थी। अपराध की गहनता का विचार करते समय अपराधी के वर्ण को विशेषतया ध्यान में रखा जाता था। समाज में वर्णव्यवस्था पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी, चारों वर्णों में ऊँचनीच की भावना बलवती हो गई थी और दण्ड निर्धारण में वर्णविचार एक प्रमुख तत्व था।[२१] इस विषय में केवल गौतम धर्मसूत्र ही अपवाद रुप हैं जिसने यह व्यवस्था दी कि यदि उत्तम एवं ज्ञानी व्यक्ति

अपराध करता है तो उसे उतना ही अधिक दण्ड भी मिलना चाहिए।[२२]

आर्थिक विकास–

इस युग का आर्थिक विकास उत्तर वैदिक युग से बहुत भिन्न नहीं था किसी क्षेत्र में तनिक विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

कृषि एवं पशु–पालन–

इस युग में आर्थिक स्थिति का सर्वप्रमुख स्तम्भ कृषि ही रहा। कृषि से सम्बद्ध प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के साथ कोई न कोई धार्मिक विधि जोड़ दी गई है, जिससे कृषि का महत्व सूचित होता है। जैसे हल में बैल जोड़ते समय, बीज बोते समय, कटी फसल को खलिहान में रखते समय तथा अन्य अवसरों पर भी धार्मिक विधियाँ सम्पन्न होती थीं । फसल का पहला अन्न काटकर लाने के समय आग्रायण यज्ञ किया जाता था। व्रीहि तथा यव की मुख्य फसलें होती थी।

इस युग में पशु अत्यधिक मूल्यवान् सम्पत्ति रुप थे। विभिन्न गृह्यसूत्रों में निरन्तर ही गोधन को समृद्ध करने की प्रार्थनाएॅं मिलती हैं। पशुधन से व्यक्ति की सम्पत्ति का मूल्यांकन हो जाता था सभी वर्णों के लोग अपने कार्य और व्यवसाय के अनुरुप पशुओं को पालते थे।[२३] पशु विनिमय से वस्तुओं का क्रय–विक्रय भी सम्भव था। इसीलिए सूत्र साहित्य में पशुओं के स्वास्थ्य की प्रार्थनाएॅं की गई हैं। सूत्र युग तक आते आते गौ एक मूल्यवान् सम्पत्ति मात्र नही रह गई अपितु गौ का सम्मान बढ़ गया था । रथारूढ़ व्यक्ति भी मार्ग में गौ को देखकर रथ से उतर का गाय के प्रति सम्मान प्रकट करता था

व्यापार विभिन्न उद्योग तथा व्यवसाय –

वैश्य वर्ग ही मुख्यतः व्यापार कार्यों में संलग्न होते थे–

वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम्।[२४]

व्यापार हेतु जाने से पूर्व 'पण्यसिद्धि' नामक धार्मिक अनुष्ठानों का विधान गृह्यसूत्रों में मिलता है, जिसमें व्यापार की जाने वाली वस्तुओं से तनिक सा अंश निकालकर अग्नि में समर्पित किया जाता था और सम्पत्ति वृद्धि की प्रार्थना की जाती थी। इस काल में मुद्रा का प्रचलन अवश्य हो गया था, किन्तु अधिकांश रुप में वस्तुओं के विनिमय से ही व्यापार किया जाता था।

ताँबा, लोहा, पत्थर और मिट्टी से अनेक प्रकार के पात्र तथा औजार बनाये जाते थे। सोना तथा चाँदी भी पात्र बनाने में प्रयोग किये जाते थे। पत्तों तथा विभिन्न प्रकार की घास से टोकरियॉं , चटाई तथा आसन बनाये जाते थे। सूत कातने तथा बिनने की कलाएँ पर्याप्त विकसित हो गईं थी। इसी प्रकार वस्त्र रंगने की कला ने भी बहुत उन्नति कर ली थी, क्योंकि विभिन्न रंगों से रंगे कपड़ों का अनेकशः उल्लेख हुआ है। विविध शिल्प प्रचलित थे गृह्यसूत्रों में अनेक शिल्पों के नाम प्राप्त होते हैं।

गृहनिर्माण –

आर्थिक दृष्टि से इस क्षेत्र में सूत्रकाल में पर्याप्त प्रगति दिखाई देती है। गृहनिर्माण के समय की जाने वाली अनेक विधियाँ गृह्यसूत्रों में वर्णित हैं।भूमि परीक्षण, गृहनिर्माण के प्रकार एवं विविध कक्षों का विभाजन, द्वारों की स्थिति, बड़े जलभाण्डों तथा नालियों का निर्माण आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्रति वर्ष वर्षा के बीत जाने पर घरों की टूट–फूट ठीक कराने का भी विवरण दिया गया है। विशिष्ट धनवान जन सार्वजनिक उद्यानों , कुओं तथा पानी की टंकियों का भी निर्माण कराते थे।

आवागमन तथा संचार साधन –

इन साधनों का भी इस युग में पर्याप्त विकास हुआ। पुल , व्यवस्थित मार्गों तथा चौराहों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। यात्रा के लिए लकड़ी के बने हुए रथ सर्वाधिक प्रयोग में लाये

जाते थे। घोड़ों , खच्चरों व उँटों पर सवारी करके भी यात्रा की जाती थी।

राजकीय समारोहों तथा जुलूसों में हाथी भी प्रयुक्त होते थे। जलमार्ग से होने वाले आवागमन में छोटी तथा बड़ी नावों का प्रयोग किया जाता था तथा आवश्यकता पड़ने पर जहाज भी चला करते थे। आवागमन की सुविधा के लिए मार्गों की पर्याप्त देख–रेख की जाती थी।

इस प्रकार कल्पसूत्रों में आर्य जाति के पारिवारिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के प्राचीनतम कर्मानुष्ठान वर्णित हैं, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था का विकसित रुप हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि –

१. वशिष्ठ धर्मसूत्र ८/११
२. गौतम धर्मसूत्र १/१
३. आश्वालयन गृह्यसूत्र १/१५/१
४. पारस्कर गृह्यसूत्र १/१६/४
५. वशिष्ठ धर्मसूत्र ८/१३
६. वशिष्ठ धर्मसूत्र ८/१–८, ७/१–२ ,६/२–८
७. गौतम धर्मसूत्र ३/२/२५–३३
८. पारस्कर गृह्यसूत्र १/८/२१, आश्वालयन गृह्यसूत्र १/६/११
९. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १/१९/२
१०. गोभिल गृह्यसूत्र ३/४/६
११. गौतम धर्मसूत्र १/४/९
१२. गौतम धर्मसूत्र १/४/४
१३. गौतम धर्मसूत्र १/४/७
१४. गौतम धर्मसूत्र १०/१/७
१५. गौतम धर्मसूत्र १०/१–३
१६. गौतम धर्मसूत्र२८/४८–४९
१७. वशिष्ठ धर्मसूत्र ३/२०
१८. बौधायन धर्मसूत्र १/१/१/७–८
१९. वैदिक एज पृ० ४८८
२०. वैदिक एज पृ० ४८९
२१. विष्णु धर्मसूत्र १/८२६ , १/६/३, बौधायन गृह्यसूत्र २/१०/३–६, १/२/५३, २/११/१४ वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/२२ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र २/१/२१/१
२२. गौतम धर्मसूत्र १२/१७
२३. गौतम धर्मसूत्र ६/६–७
२४ गौतम धर्मसूत्र १०/१/५०

संस्कृत विभाग,
गु० कां० वि० विद्यालय हरिद्वार

स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल–फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दरूप फल को नहीं भोग सकते। और जो अर्थ का जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म–मरणरूप दु:ख का त्याग करके सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह सर्वदु:ख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादि शास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये।

–स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषय:

छन्द वेदाङ्ग की उपादेयता एवं प्रासङ्गिकता

❑ डॉ. रेनू के. शर्मा...✍

वेदाङ्ग पद दो पदों वेद्+अङ्ग (=वेदाङ्ग) से मिलकर बना है। **अङ्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि** अर्थात् अङ्ग वे उपकारक तत्त्व हैं, जो विषयवस्तु को समझने में सहायता प्रदान करते हैं। भाषा एवं भाव की दृष्टि से वेद के अर्थ-परिज्ञान में सहायता प्रदान करने वाले महनीय ग्रन्थों को 'वेदाङ्ग' संज्ञा से अभिहित किया गया है। वेदाङ्ग छह हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष-

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

इस प्रकार वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छह विषयों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है-

1. वेद के मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण-**शिक्षा**
2. वैदिक कर्मकाण्ड का समुचित ज्ञान-**कल्प**
3. पदों की प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान-**व्याकरण**
4. पदों की व्युत्पत्ति का ज्ञान-**निरुक्त**
5. छन्दों का ज्ञान-**छन्द**
6. वैदिक कर्मकाण्ड के लिए नक्षत्र, तिथि तथा मास आदि कालविषयक निर्णय-**ज्योतिष**

सर्वप्रथम वेदाङ्गों का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में प्राप्त होता है, तदनुसार उपनिषद् का वचन द्रष्टव्य है-

⋆ मुण्डकोपनिषद् में वेद तथा वेदाङ्गों का परिगणन 'अपरा विद्या' के रूप में किया गया है-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो
ज्योतिषमिति।[१]

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष की गणना अपराविद्या के अन्तर्गत की गयी है।

⋆ पाणिनीय शिक्षा में वेद-पुरुष के छह अङ्गों का निरूपण किया गया है-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[२]

अर्थात् वेद पुरुष के छह अङ्गों के रूप में छह वेदाङ्गों का वर्णन किया गया है। छन्द वेद पुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है तथा व्याकरण मुख है।

वेदरूपी पुरुष के पाद के रूप में छन्द वेदाङ्ग को स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार जीवधारियों की गमन क्रिया में पादों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है, तथैव वेद मन्त्रों का पाठ छन्द-ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है। जहाँ पद्यात्मकता होगी वहाँ छन्दात्मकता अवश्य होगी।

छन्द वेदाङ्ग-

मन्त्रों में अक्षर, पाद, विराम की विशेषता के आधार पर जो संज्ञा प्रदान की जाती है, वह 'छन्द' है। छन्द का प्रमुख प्रयोजन है- भाषा का लालित्य। वेद छन्दोमयी वाणी है। इसलिए छन्दों का ज्ञान होने पर ही मन्त्रों का उच्चारण और पाठ का ज्ञान सम्भव है। वेद में पाठ की व्यवस्था छन्द पर आधारित है, यही कारण है कि वेद का अन्य नाम 'छन्दस्' भी है। निरुक्त के वचन **छन्दांसि छादनात्**[३] के अनुसार -√छद् धातु से निष्पन्न छन्द- भावों को आच्छादित करके उन्हें समष्टि रूप प्रदान करते हैं।

पाणिनि ने सामान्य बोल-चाल की भाषा के लिए 'भाषा' पद का प्रयोग किया तथा वैदिक भाषा के लिए 'छन्दस्' पद का प्रयोग प्राप्त होता है-

बहुलं छन्दसि।[४]

छन्द का लक्षण-

★ कात्यायन प्रणीत ऋक् सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में छन्द का लक्षण समुपलब्ध होता है-

यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।[५]

अर्थात् संख्या विशेष में वर्णों की संख्या ही छन्द है। वैदिक छन्द वृत्तात्मक हैं। इनके अन्तर्गत वर्णों की संख्या नियत होती है।

★ अथर्ववेद की बृहत्सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण इस प्रकार से दिया है-

छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते।[६]

★ **अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।**[७]

अर्थात् अक्षर से ही सप्त वाणी (सप्त छन्दों) का मान (परिमाण) होता है।

★ उक्त मन्त्र पर भाष्य करते हुए सायण कहते हैं-

अक्षरेणैव सप्त वाणी वागधिष्ठितानि सप्त छन्दांसि मिमते निर्माणं कुर्वन्ति (मिमते मान्ति मातारः ......पाठान्तरम्)।...............अक्षरैः पादाः परिमीयन्ते, परिमितैः पादैश्छन्दांसि।[८]

यद्यपि छन्द के ये दोनों लक्षण वैदिक ग्रन्थों के हैं, पुनरपि यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि छन्द का उच्चारण करते ही पद्य अथवा गद्य-बद्ध रचना विशेष के अक्षरों की संख्या का ज्ञान हो जाए, वही 'छन्द' का मूल स्वरूप है।

छन्द पद के अर्थ-

★ **छन्दः पद्ये अभिलाषे च।**[९]

★ **गायत्री प्रमुखं छन्दः।**[१०]

★ **इच्छासंहितयोरार्षे छन्दो वेदे च छन्दसि।**[११]

★**छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराद्याचाराभिलाषयोः।**[१२]

यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वान् 'छन्द' पद का अर्थ केवल पद्य स्वीकार करते हैं। लोक में भी प्रायः 'छन्द' पद पद्य अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी कारण अनेक आचार्य यजुर्वेदीय मन्त्रों को छन्द नहीं मानते हैं-

यजुषामनियताक्षरत्वाद् एकेषां छन्दो न विद्यते।[१३]
यजुषां च विशेषविहितं छन्दो न दृश्यते क्वचित्।[१४]
यजुर्मन्त्राणां त्वपरिमिताक्षरोपेतत्वाच्छन्दोविभागो नास्ति।[१५]

ध्यातव्य है कि प्राचीन आचार्यों के अनुसार छन्द गद्य और पद्य दोनों में होता है। जैसे-

★ आचार्य दुर्ग ने निरुक्त की वृत्ति में किसी लुप्त ब्राह्मण का वचन उद्धृत करते हुए बताया है कि छन्द के बिना वाक् उच्चरित नहीं होती है-**नाच्छन्दसि वागुच्चरति इति।**[१६]

★ भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि छन्द से रहित कोई शब्द नहीं और शब्द से रहित कोई छन्द नहीं होता है -**छन्दो हीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्।**[१७]

★ कात्यायन मुनि के नाम से प्रसिद्ध ऋग्यजष् परिशिष्ट में लिखा है कि ज्ञानी पुरुष के लिए सारा वाङ्मय छन्दरूप है। क्योंकि छन्द और पृच्छा (जानने की इच्छा) के बिना कोई शब्द प्रवृत्त नहीं होता-

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद् विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन॥

★ जयकीर्ति छन्दोनुशासन में लिखा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय छन्द से युक्त है, छन्द के बिना कुछ नहीं-
छन्दोभाग्वाङ्मयं सर्वं न किञ्चिच्छन्दसां विना।[१८]

इस प्रकार आचार्यों के मतानुसार स्पष्ट है कि छन्द गद्य तथा पद्य दोनों ही रूपों में पाया जाता है तथापि यह बात वैदिक वाङ्मय पर विशेष रूप से सटीक बैठती है।

प्रमुख वैदिक छन्द-

वैदिक वाङ्मय में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्,

बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती - प्रमुख सात छन्द निर्दिष्ट हैं। इन्हें 'सप्तछन्दांसि' भी कहा जाता है।

१. गायत्री- यह छन्द तीन चरणों तथा चौबीस (२४) अक्षरों वाला होता है। यथा-ऋग्वेद-७.१.१-३०

२. उष्णिक्- इस छन्द में अट्ठाईस (२८) अक्षर तथा तीन चरण होते हैं। यथा-ऋग्वेद-१.८.२३-२६

३. अनुष्टुप्- इसमें अक्षरों की संख्या बत्तीस (३२) तथा चार चरण होते हैं। यथा-ऋग्वेद-८.६९.७-१६

४. बृहती- यह छन्द छत्तीस (३६) अक्षरों का होता है तथा इसमें चार चरण होते हैं। यथा-ऋग्वेद-३.९.१-८

५. पङ्क्ति- इस छन्द में चालीस (४०) अक्षर तथा पाँच चरण होते हैं। यथा-ऋग्वेद-१.१९१.१०-१२

६. त्रिष्टुप्- इसमें चवालीस (४४) अक्षर तथा चार चरण होते है। यथा-ऋग्वेद-४.५०.४

७. जगती- इस छन्द में चार चरण तथा अड़तालीस (४८) अक्षर होते हैं। यथा-ऋग्वेद-१.५१.१३

इन छन्दों के अनेक भेद-प्रभेद भी स्वीकार किये गये हैं तथा इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छन्द भी होते हैं।

वैदिक एवं लौकिक छन्दों में अन्तर-

★ लौकिक छन्द की दृष्टि से वैदिक संस्कृत में छन्दविषयक जटिल नियमों का अभाव दृष्टिगत होता है।

★ वैदिक छन्दों का यह वैशिष्ट्य है कि ये अक्षर-गणना पर नियत रहते हैं। अस्तु, इनमें लघु एवं गुरु के विषय में विशेष नियम नहीं होते हैं। परन्तु लौकिक संस्कृत में वत्तस्थ अक्षरों की गुरुता और लघुता नियत होती है।

★ लौकिक छन्दों में चार चरण होते हैं जबकि वैदिक छन्दों के विषय में यह नियम नहीं है।

★ वैदिक छन्द प्राय: आक्षरिक हैं तथा उनके अनेक भेद-प्रभेद हैं वैदिक छन्दों के आधार पर लौकिक छन्दों का विकास हुआ है।

★ वैदिक छन्दों में लौकिक छन्दों की भाँति गण व्यवस्था (मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण) नहीं है।

छन्द-साहित्य-

यद्यपि छन्दशास्त्र का बहुत व्यापक साहित्य उपलब्ध नहीं होता है तथापि जितना भी प्राप्त होता है वह अत्यन्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है।

★ पिङलविरचित छन्द:सूत्र

★ कात्यायनप्रणीत ऋक् सर्वानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी

★ पतञ्जलिकृत छन्दोविचिति:

★ युधिष्ठिर मीमांसककृत वैदिकछन्दोमीमांसा

★ E. Vernon Arnold – Vedic Metre its Historical Development

★ B. Van Nooten and G. Holland – Rigveda, a metrically restored text, Department of Sanskrit and Indian Studies, Harvard University, Harvard University Press, Massachusetts and London England:1994

★ H. Oldenberg – Prolegomenaon metre and Textual History of the Rigveda, Berlin, 1988

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छन्द वेदाङ्ग का ज्ञान वेदार्थ बोध के लिए अत्यन्त आवश्यक है जिससे शुद्ध त्रुटिरहित लयात्मक वेदोच्चारण किया जा सकता है। अत: यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि छन्द नि:सन्देह वेद पुरुष के पाद सदृश ही हैं, जिनके ज्ञान के अभाव में वैदिक वाङ्मय में गति कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिए वैदिक वाङ्मय की परिधि में प्रवेश करने के लिए छन्द वेदाङ्ग का ज्ञान अनिवार्य है।

- यू.जी.सी. पोस्ट डॉक्टोरल फैलो,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

निरुक्ताध्ययन के प्रयोजन

❑ डॉ. वेदव्रतः...✍

विराट् पुरुष परमात्मा के द्वारा सृष्टि के आदि में महामना क्रान्तदृष्टा ऋषि के पावन अन्तस् में उद्भूत ज्ञानराशि ही वेद है। वेद ज्ञान की दृष्टि से सृष्टि की आद्य, अद्वितीय एवं अलौकिक कृति है। वेद की अपौरुषेयता विश्व-विश्रुत है। प्राचीन एवं अर्वाचीन सकल-ज्ञान-विज्ञान का उत्स वेद ही हैं।[१] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के ये सर्वोत्तम साधक हैं। यह ज्ञान-राशि अनादिकाल से ही मानवीय-मानस की पथ प्रदर्शिका रही है।[२] संसार की सकल संस्कृतियों की निर्मिति अपौरुषेय कृति इस श्रुति से ही हुई है।[३] यह ज्ञानराशि सार्वभौम, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है। इसके अध्ययन से विमुख द्विज शूद्रत्व का प्राप्त हो जाता है[४], इसलिए वेदांग वेदाध्ययन द्विज के लिए अनिवार्य एवं महनीय कर्म है।[५]

जिसकी सहायता से वेद के अर्थ को जाना जाता है, उसे वेदाङ्ग कहते हैं- **अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते वेदा अमीभिरिति वेदाङ्गानिः।** ये ६ हैं- छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त शिक्षा एवं व्याकरण। वेदाङ्ग-साहित्य वेदार्थ-परिज्ञान में नितान्त उपकारक है।

प्राचीनकाल में मनीषी तपस्वी आचार्यों ने विभिन्न विधियों से वेदाध्ययन की परम्परा लोक में अविच्छिन्नरूप से प्रचालित की। उस समय वेदार्थ-परिज्ञान हेतु वेदाङ्ग-साहित्य की आवश्यकता नहीं थी। केवल वेद से ही वेदार्थ अवगत हो जाता था तथा प्रवचन द्वारा पढ़ा दिया जाता था। किन्तु यह स्थिति यास्क से बहुत पूर्व रही होगी। कालान्तर में यथा-यथा आलस्य एवं प्रमाद के कारण वेदार्थ-ज्ञान दुरूह प्रतीत होने लगा तब अपनी सन्ततियों की सरलता एवं अपने प्राचीन-साहित्य की रक्षा हेतु वेदाङ्ग-साहित्य की रचना हुई-**उपदेशाय ग्यायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गनि च।** निरु० १/२०

उपर्युक्त सन्दर्भ में आये हुए **''समाम्नासिषुः वेदम्''** इस अंश का अर्थ कुछ भाष्यकार **''वेद बनाए''** यह करते हैं, जो सर्वथा हेय है। वेद-वेदाङ्गविद् आचार्य दयानन्द ने इस अंश का अर्थ **''सम्यगभ्यासं कारितवन्तः''**[६] किया है, जो सर्वथा सिद्धान्तानुकूल ही है। निरुक्तवार्तिक नामक प्राचीन ग्रन्थ में भी इस अंश का अर्थ ऋषिमतानुकूल ही है-

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
उपदेशश्च वेदव्याख्या। यथोक्तम्-
अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि।
व्याख्यैवात्रोपदेशस्स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति। उपदेशेन ग्राहयितुमशक्या इत्यर्थः। अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति बिल्मग्रहणायोपायतो वशीकरणाय इमं ग्रन्थं वक्ष्यमाणं समाम्नासिषुः समाम्नातवन्तस्तमेवाह- वेदं च वेदाङ्गानि चेति। अङ्गशब्द उपाङ्गादेरप्युपलक्षणार्थः।

वेदमुपदेशमात्राद् ग्रहीतुमशक्ताः। वेदं समाम्नासिषुः वेदार्थं चोपदेशेन ग्रहीतुमशक्ताः। अङ्गानि च समाम्नासिषुरिति। यथोक्तम्-

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥

वेदाङ्ग-साहित्य में निरुक्त का विशिष्ट स्थान है। निर् उपसर्ग पूर्वक **वच परिभाषणे** धातु से क्त प्रत्यय करने पर निरुक्त शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार निरुक्त शब्द का अर्थ हुआ- शब्द के अर्थ को पूर्ण रूप से कहना। आचार्य सायण के अनुसार

अर्थ-ज्ञान हेतु स्वतन्त्र रूप से पदों का संग्रह जहाँ किया जाता है, वह निरुक्त है[७] अथवा किसी भी पद के सम्भावित सभी अवयवार्थ जहाँ पर अशेषरूप से दिये गये हैं, उसे निरुक्त कहते हैं।[८] निरुक्त के लिए निर्वचन शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में निर्वचन के लिए निरुक्त पद का प्रयोग है- **स वा एष आत्मा हृदि। तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्यमिति। तस्माद् हृदयम्।**[९] आचार्य दुर्ग निर्वचन पद का अर्थ प्रतिपादित करते हुए लिखाते हैं-**निकृष्य=विगृह्य वचनम्= निर्वचनम्** अर्थात् शब्दों में निहित अर्थ को विग्रह के द्वारा बताना। मुण्डक उपनिषद् में निरुक्त को अपरा विद्या कहा गया है- **तत्राक्षरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽअथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।** मुण्डक० १/१/५

काशिकावृत्ति के अनुसार वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विचार, वर्ण-नाश तथा धातु के किसी एक अर्थ की अतिशयता को कहना निरुक्त कहलाता है-

वर्णागमो वर्णविपयर्यश्च द्वौ चापरौ
वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन
योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

-काशिका ६/३/१०८

यहाँ यह ध्यातव्य है कि लोपागम, वर्णविकार के माध्यम से निरुक्त-शास्त्र भी शब्दों का निर्वचन करता है तथा व्याकरण-शास्त्र भी। पुनः दोनों भिन्न-भिन्न कैसे हैं?

इसका समाधान यह है कि व्याकरण-शास्त्र प्रत्यक्षक्रिय पदों का निर्वचन करता है किन्तु अतिपरोक्षक्रिय पदों को अव्युत्पन्न मानकर उनका निर्वचन नहीं करता तथा निरुक्त अतिपरोक्षक्रिय शब्दों का भी निर्वचन करता है। व्याकरण शब्द के धातु, प्रत्यय एवं विकार की विवेचना के द्वारा शब्द के स्वरूप का बोध कराता है तथा निरुक्त अर्थ के अनुसार शब्द में प्रकृति, प्रत्यय एवं विकार की परिकल्पना करता है। निरुक्त धातु, प्रत्यय एवं उनके योग से होने वाले विकारों को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना व्याकरण देता है। सरल रूप में यह कह सकते हैं कि व्याकरण शब्द की विशेष व्याख्या करता है तथा निरुक्त सामान्य व्याख्या करता है। वस्तुतः देखा जाये तो निरुक्त व्याकरणशास्त्र का पूरक है।[१०] व्याकरण-शास्त्र शब्द-बोध में सहायक होता है तथा निरुक्त अर्थ-बोध में। इस प्रकार निरुक्त और व्याकरण दोनों शास्त्रों का स्वरूप, प्रवृत्ति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

निरुक्त निघण्टु का व्याख्यानशास्त्र है। यद्यपि निघण्टु स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथा वेदार्थ में उपकारक है अतः उसे ही वेदाङ्ग मानना चाहिए न कि निरुक्त को, क्योंकि निरुक्त निघण्टु का व्याख्यानमात्र है। इस सन्देह की निवृत्ति आचार्य यास्क ने निरुक्त के दो लक्षणों के माध्यम से की है। आचार्य सायणकृत निरुक्त का प्रथम लक्षण है- **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** अर्थात् अर्थज्ञान के लिए निरपेक्षभाव से पदों का संकलन जहाँ किया गया है, वह निरुक्त कहलाता है। गवादि से लेकर देवपर्यन्त शब्दसमुदाय का निघण्टु में निरपेक्षतया संकलन किया गया है अतः इस लक्षण के अनुसार निघण्टु भी निरुक्त है। आचार्य सायणकृत निरुक्त का दूसरा लक्षण है-**एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेण उच्यन्ते तन्निरुक्तम्** अर्थात् एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ सम्पूर्णरूप से जहाँ कहे गये हैं, उसे निरुक्त कहते हैं। इस लक्षण से आचार्य यास्क के निघण्टु का व्याख्यानशास्त्र (निरुक्त) भी निरुक्त कहलाता है क्योंकि यास्क ने निघण्टु-व्याख्यान (निरुक्त) में निर्वचन के माध्यम से एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ (प्रकृति-प्रत्यय) सम्पूर्ण रूप से बतलाए हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों लक्षणों से निघण्टु एवं निरुक्त दोनों ही वेदाङ्ग मान लिए जाते हैं। आचार्य सायणकृत लक्षण को प्रमाण न मानने पर भी

निरुक्त वेदाङ्ग ही है, क्योंकि व्याख्येय निघण्टु के प्रयोजन को ही आचार्य यास्क का व्याख्यानशास्त्र सिद्ध करता है।

आचार्य यास्ककृत निघण्टु में १७७० या १७७१ शब्दों का संकलन ३ काण्ड एवं ५ अध्यायों में किया है। प्रथम ३ अध्याय में एकार्थक सरल शब्दों का संकलन है। इन तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है। चतुर्थ अध्याय में तीन खण्डों में अनेकार्थक क्लिष्ट शब्दों का संकलन किया गया है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक काण्ड कहते हैं। पंचम अध्याय में ६ खण्डों में देवता विषयक शब्दों का संकलन है। इस अध्याय को दैवतकाण्ड कहा जाता है। निरुक्त में लगभग ८०० मन्त्र या मन्त्रांश उद्धृत किये गये हैं तथा लगभग ४४० मन्त्रों की खण्डशः अथवा समग्रतः व्याख्या की गई है।[११]

निरुक्त वेद-पुरुष का श्रोत्र है। जिस प्रकार बधिर (बहरे) व्यक्ति के लिए स्वर, लय, ताल से सुसज्जित मधुर गीत भी अरण्यरोदन के समान है, उसी प्रकार निरुक्त को न जानने वाले व्यक्ति के लिए वेद का प्रवचन भी अरण्यरोदन ही है। वेद और निरुक्त के मध्य साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। निरुक्त की उपादेयता और लोकप्रियता इस बात से भी जानी जाती है कि आचार्य यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त आचार्य हो चुके थे। १३ नैरुक्त आचार्यों का उल्लेख यास्ककृत निरुक्त में ही प्राप्त होता है।

वेदार्थपरिज्ञान में निरुक्त के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं- **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः** अर्थात् निरुक्तशास्त्र के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान यथाविधि नहीं हो सकता। अर्थज्ञान के बिना शब्द के स्वर एवं संस्कार (व्याकरण प्रक्रिया) का यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः वेद के अर्थ को जानने के लिए निरुक्त का विधिवत् ज्ञान नितान्त आवश्यक है। निरुक्त के इस सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए आचार्य वररुचि निरुक्त-समुच्चय में लिखते हैं- **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते इति नानिरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति इति च वृद्धानुशासनम्। निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्- योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा (निरु0 1/6)। शास्त्रान्ते च यां यां देवतां निराद् तस्यास्तया ताद्भाव्यमनुभवति।. ...**

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनन्तर उपलब्ध सबसे प्राचीन वेद-भाष्य निरुक्त ही है। यद्यपि निरुक्त में ना तो सभी मन्त्रों की व्याख्या प्राप्त होती है और न ही सभी वैदिक शब्दों का निर्वचन। किन्तु जिन मन्त्र या शब्दों का अर्थ आचार्य यास्क ने निरुक्त में प्रदर्शित किया है, वह वेद-ज्ञान-जिज्ञासु स्वाध्यायियों के लिए अत्यन्त उपादेय है। आचार्य यास्क ने वेद और वेदार्थ के मध्य निरुक्त नामक एक ऐसी नौका का निर्माण किया है, जिसके माध्यम से अनन्त, अपार, दुरूह वेद-ज्ञान-निधि को अनायास समुत्तीर्ण किया जा सकता है।

वेदार्थ हेतु निरुक्त की उपादेयता के विषय में आचार्य ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लिखते हैं- ''निरुक्त वेदार्थ के लिए कहाँ तक आवश्यक है? इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाण तथा कारण लिखे जा सकते हैं, परन्तु विस्तार-भय से हम न लिखकर केवल इतना ही लिख कर इस विषय को समाप्त करते हैं कि वर्तमानकाल में उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यों में ब्राह्मण-ग्रन्थों को छोड़कर निरुक्त आर्ष ऋषि प्रोक्त सर्वतः प्रथम वेदभाष्य है, जो वेदार्थ की शैली केवल नियम बता कर ही नहीं छोड़ देता, अपितु सोदाहरण सोपपत्तिक वेदमन्त्रों का अर्थ आजकल की भाषा में ही नहीं अपितु प्राचीनकाल की भाषा में देता है।[१३]

निरुक्त वेदार्थ में किस प्रकार उपकारक है, यह तथ्य निम्न प्रसंगों से जाना जा सकता है।

यजुर्वेद के ५वें अध्याय के दूसरे मन्त्र का अंश है- **उर्वश्यस्य्युरसि पुरुरवा असि।** महीधर निरुक्त को ध्यान में न रखते हुए लौकिक अर्थों के आधार पर इस मन्त्रांश का अव्यवहारिक एवं निकृष्ट अर्थ करते हैं-

हे अधरारणे त्वमुर्वशी असि यथोर्वशी पुरुरवो नृपस्य भोगायाधस्ताच्छेते तद्वत् त्वमधोऽवस्थितासीत्यर्थः- हे उत्तरारेण त्वं पुरुरवा असि यथा पुरुरवा नृप उर्वश्या अभिमुख उपरि वर्तते तथा त्वमपीत्यर्थः। अर्थात् हे नीचे की अरणि (यज्ञ की लकडी) तुम उर्वशी हो। जैसे उर्वशी (अप्सरा) पुरुरवा राजा के भोग के लिए नीचे सोती है उसी तरह तुम नीचे स्थित हो। हे ऊपर की अरणी (यज्ञ की लकड़ी) तुम पुरुरवा हो जैसे पुरुरवा राजा उर्वशी के सामने ऊपर होते हैं, वैसे तुम भी हो।

किन्तु स्वामी दयानन्द ने निरुक्त के अनुसार इस मन्त्रांश का कितना उदात्त भाष्य किया है। इस मन्त्र के आरम्भ में स्वामी जी लिखते हैं कि यह यज्ञ कैसा है? इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया जा रहा है-

अर्थ- जो (उर्वशी) बहुत सुखों को प्राप्त करने वाली क्रिया (असि) है, जो (पुरुरवा:) बहुत शास्त्रों के उपदेश करने का निमित्त है।

उर्वशी निघण्टु के चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद का ४७ वाँ शब्द है तथा पुरुरवा निघण्टु के पञ्चम अध्याय के चतुर्थ पाद का ३२वाँ शब्द है। जिनका अर्थ निरुक्तकार ने निम्न प्रकार से किया है-

उर्वशी उर्वभ्यश्नुते.....[१४] अर्थात् उर्वशी उसको कहते हैं, जो बहुतों को सब प्रकार व्याप्त हो वा प्राप्त हो।

पुरुरवा बहुधा रोरुयते...[१५] पुरूरवा उसको कहते हैं, जो बहुत शब्द करने वाला हो।

स्वामी जी इस मन्त्र का अर्थ निरुक्त के आधार पर करते हैं कि यज्ञ उर्वशी है अर्थात् यज्ञ बहुतों (बहुत सुखों) से व्याप्त है, इसलिए बहुत सुख प्राप्त कराने वाली क्रिया उसको कहा गया है। यज्ञ पुरुरवा है। यह बहुत शास्त्रों के उपदेश का निमित्त है अर्थात् यज्ञ में ही लोग उपदेशादि देने से शब्द करते हैं तभी यज्ञ को बहुत शब्द करने वाला कहा गया है।

इसी प्रकार निरुक्त ज्ञान के अभाव में आचार्य महीधर ने यजुर्वेद के १६ वें अध्याय के २८वें मन्त्र के अंश **नमः श्वभ्यः** के अर्थ का अनर्थ किया है। महीधर इस मन्त्रांश का अर्थ कुछ इस प्रकार करते हैं- **श्वानः कुक्कुरास्तद्रूपेभ्यः नमः इति नमस्कारमन्त्राः** अर्थात् कुत्तारूप भगवान् रुद्र को नमस्कार। भाष्यकार महीधर ने केवल लौकिक कोश के आधार पर श्वा पद का अर्थ कुत्ता कर दिया किन्तु यदि उन्हें वैदिक कोश निरुक्त का यथाविधि ज्ञान होता तो सम्भवतः वह इस प्रकार का अनर्थ करने का कदापि दुस्साहस नहीं करते। निरुक्तविद् आचार्य दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में निरुक्त के आधार पर इस मन्त्रांश का अर्थ इस प्रकार किया है- लोग (**श्वभ्यः**) कुत्तों को (**नमः**) अन्न देवें।

महीधर ने लौकिक अमरकोशादि का सहारा लिया, जिसमें नमः का अर्थ नमस्कार ही है अन्न नहीं। किन्तु आचार्य दयानन्द ने वैदिक कोश निघण्टु का सहारा लिया, जिसमें नमः का अर्थ अन्न भी है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि निरुक्त ज्ञान के बिना वेद के अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

निरुक्त-शास्त्र का द्वितीय प्रयोजन है- पदविभाग का ज्ञान कराना। मन्त्रार्थज्ञान के लिए पदविभाग का परिज्ञान आवश्यक है। पदविभाग का साधुज्ञान निरुक्त के बिना नहीं हो सकता- **अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते।**[१७] इस बात को आचार्य यास्क निम्न उदाहरणों के माध्यम से समझाते हैं, यथा- **अवसाय पद्वते रुद्र मृड** (ऋग्० १०/१६९/१) तथा **अवसायाश्वान्**(ऋग्० १०/१०४/१)।

यहाँ उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में समानरूप से

अवसाय यह पद आया है। किन्तु दोनों का पदविभाग भिन्न है। प्रथम मन्त्र में आया अवसाय पद गत्यर्थ **अव धातु** से अस प्रत्यय होकर निष्पन्न अवस शब्द का चतुर्थ्यन्त एकवचन रूप है। अत: यह एक पद है अत: इसका पदविभाग सम्भव नहीं है। किन्तु द्वितीय मन्त्र में आया हुआ अवसाय पद अव उपसर्गपूर्वक **षोऽन्तकर्मणि** से धातु क्त्वा के स्थान पर ल्यप् होकर निष्पन्न होता है। अत: इसमें अव और साय इस प्रकार पद विभाग आचार्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों मन्त्रों में अवसाय यह पद आया है। सामान्यजनों को ये पद समान प्रतीत होते हैं किन्तु निरुक्त-शास्त्र का ज्ञाता अर्थानुसार पदविभाग करके अनुकूल पदविभाग को जान लेता है।

निरुक्त-शास्त्र का तृतीय प्रयोजन देवतास्वरूप निरूपण है। देवतापरिज्ञान में निरुक्त की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं-**अथापि याज्ञे दैवतेन बहव: प्रदेशा भवन्ति तदेतेनोपेक्षितव्यम्**[१८] अर्थात् यज्ञकर्म में देवता के नाम से बहुत-सी विधियाँ होती हैं, वे सब विधियाँ इस निरुक्त के माध्यम से जानी जा सकती हैं। इस विषय में स्कन्द स्वामी लिखते हैं कि नैरुक्त ही देवतापरिज्ञान में पारंगत होता है-**नैरुक्त: शक्नोति दैवतं ज्ञातुम्।** स्कन्द स्वामी निरुक्त भा० १पृ० १०८

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी निरुक्त शब्द का प्रयोग शब्दशास्त्र की शाखा या निरुक्त-शास्त्र के लिए न होकर देवताओं के स्वरूप के निरूपण अर्थ में हुआ है। जिससे देवता या उससे सम्बद्ध वस्तु का स्वरूप स्वत: स्पष्ट हो या स्पष्टरूप से निरूपित (प्रतिपादित) किया गया हो, उसे ब्राह्मणों में निरुक्त कहा गया है। अत: ब्राह्मणों में निरुक्त शब्द का प्रयोग देव-विद्या के सन्दर्भ में ही हुआ है।

देवतास्वरूप निरूपण की प्रमुखता के कारण ही सम्भवत: प्राचीन-शास्त्रों में निरुक्तशास्त्र का प्रयोग देव-विद्या के सन्दर्भ में होता था। छान्दोग्य उपनिषद् में आये देवविद्या शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने निरुक्तम् किया है।[१९] इससे ध्वनित होता है कि निरुक्त-शास्त्र का मुख्य विषय देवता प्रतिपादन है। आचार्य यास्ककृत निरुक्त के कलेवर से भी यह तथ्य परिपुष्ट होता है क्योंकि निरुक्त के १४ अध्यायों में से ८ अध्यायों में देवताओं के स्वरूप की ही चर्चा है। यद्यपि उन अध्यायों में निर्वचन भी प्राप्त होते हैं किन्तु प्रमुखता देवविद्या की ही है। सम्भवत: यही कारण है कि उन्होंने इन अध्यायों का नाम दैवतकाण्ड किया है। यही नहीं निरुक्त में किये गये निघण्टु के शब्दों के निर्वचन से भी निरुक्त के देवविद्या होने की पुष्टि होती है। आचार्य यास्क ने निघण्टु के १७७१ में मात्र ६६० शब्दों की व्याख्या की है। जिसमें उन्होंने देवताविषयक शब्दों की व्याख्या में उदारता से काम किया है। निघण्टु में आये देवताविषयक ४३० शब्दों में से उन्होंने प्रत्येक शब्द की उदाहरण-सहित व्याख्या की है। वहीं देवता भिन्न १३४१ शब्दों में केवल २३० शब्दों की ही आचार्य यास्क ने व्याख्या की है।

देवतपरिज्ञान हेतु निरुक्त के निम्न प्रसंग ध्यातव्य हैं - **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवत: स मन्त्रो भवति**[२०] अर्थात् जिस कामना से ऋषि जिस देवता में अर्थ के साफल्य की कामना करता हुआ स्तुति करता है, उस मन्त्र का वही देवता होता है। ऋषि के द्वारा वेदमन्त्र में जिसका अभिधान किया जाता है, वही देवता है, - **या तेनोच्यते (ऋषिणोच्यते) सा देवता।**[२१] महान् ऐश्वर्यशाली होने के कारण एक ही आत्मा की विभिन्न रूपों में स्तुति की जाती है- **महाभाग्याद्देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति।**निरु० ७/४

यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्रों का देवता यज्ञ होता है- **यद्दैवत: स यज्ञो वा यज्ञाङ्गो वा तद्देवता भवति।**[२२] यज्ञभेद के कारण देवता भिन्न भी हो जाता है। याज्ञिकों के अनुसार यज्ञ से भिन्न प्रसंग में अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों का देवता प्रजापति होता है। किन्तु

नैरुक्तों के मत में ऐसे मन्त्रों का देवता नाराशंस होता है। अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों में प्रकरणानुसार देवता की परिकल्पना की जा सकती है अथवा प्रकरण निर्दिष्ट देवता को उस मन्त्र का भी देवता माना जा सकता है। यही नहीं अनिर्दिष्ट देवता मन्त्रों के अनेक देवता हो सकते हैं।

संसार में ज्ञान से श्रेष्ठ तत्त्व कुछ भी नहीं है। ज्ञान की प्रशंसा करते हुए गीताकार कहते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता ४/३८

निरुक्तकार का भी यही अभिमत है। उनके मत में ज्ञानवान् व्यक्ति संसार में यश को प्राप्त करता है तथा अज्ञानी निन्दा को। अतः ज्ञानवान् बनाकर संसार में यश की प्राप्ति कराना भी निरुक्त का प्रयोजन है-

अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च।

-निरुक्त १/६/३

वस्तुतः अज्ञानी व्यक्ति की प्रवृत्ति विज्ञान में भी दोष खोजने की होती है।[२३] कवि विल्हण ने इस विषय को बहुत ही रोचक उदाहरण के द्वारा समझाया है-

निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव अर्थात् मनोरम केलिवन में पहुँचकर भी क्रमेलक (ऊँट) कांटों के समूह को ही खोजता है। किन्तु इसके विपरीत प्रबुद्ध व्यक्ति जितना अधिक स्वाध्याय करता है उतना ही अधिक ज्ञानवान् होता जाता है तथा उसकी विज्ञान में अभिरुचि बढ़ती जाती है-

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

-मनु० ४/२०

शब्द-ज्ञान की अपेक्षा अर्थ-ज्ञान सदैव महनीय एवं श्रेयस्कर माना गया है क्योंकि अर्थ का विज्ञाता सकल भद्र को प्राप्त कर अनन्त सुख का भोग करता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ निरुक्त १/१८

अर्थज्ञान के बिना व्यक्ति शास्त्र के फल को प्राप्त नहीं कर सकता-

यथा पशुर्भारवाही न तस्य भजते फलम्।
द्विजस्तथार्थानभिज्ञो न वेदफलमश्नुते।

उपर्युक्त उद्धरणों से वेदार्थ में निरुक्त की उपादेयता निर्विवादसिद्ध है किन्तु सैद्धान्तिकदृष्टि से निरुक्त के कुछ विषयों से आर्य विद्वानों का मतभेद है। सिद्धान्त की दृष्टि से वेदानुकूल निरुक्त ही आर्य विद्वानों के लिए प्रमाण है। आचार्य जिज्ञासु जी इस सन्दर्भ में में लिखते हैं- इतना तो जानता हूँ कि निरुक्त वेदानुकूलतया हो आर्य समाज के लिए प्रमाण है।[२५]

निरुक्त के कई पक्षों पर मूर्धन्य वैदिक विद्वान् पं० शिवशंकर जी असहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

सायणादि कैसे अवाच्य-घृणित-अश्लील अर्थ वेदों का कर गये हैं..... क्या वेदों का यही अर्थ है? यह सम्मति केवल सायण की ही न समझनी किन्तु यास्क, कात्यायन-शौनकादिकों की भी जाननी चाहिए। क्योंकि यथा **हरिस्तथा हरः।**

सायण-महीधर-कात्यायन-आपस्तम्ब-शौनक-यास्क आदि वेदों का अर्थ कर जो दुर्मार्ज्जनीय, अकथनीय, लाञ्छन वेदों पर लगा गये हैं, उनका निकालना दुःसाध्य-सा हो गया है। यदि यह सब वेदों पर टीका टिप्पणी न कर जाते तो अच्छा था।[२६]

परन्तु शोक यह है कि यास्काचार्य सदृश बुद्धिमान् जन भी इन आख्यायिकाओं कथाओं इतिहास के आशय का सङ्केत-मात्र भी न कर गये।[२७]

प्रथम यास्काचार्य का सर्वभ्रमोत्पादक लेख यह है-

तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहावाञ्चकार। निरु० १०-२६

इसी प्रकार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं या

कर्त्ता; इस विषय पर भी आचार्य यास्क का विरोधाभासी दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। आचार्य यास्क निरुक्त ३/११ में **''ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः''** अर्थात् कुत्स ऋषि होता है, स्तोमों (मन्त्रों) का कर्त्ता ऐसा औपमन्यवाचार्य का मत है। यहाँ ऋषि को मन्त्रों का कर्त्ता बताया गया है। वहीं निरुक्त २/११ में ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ९८ सूक्त के ५वें मन्त्र में आये ऋषि शब्द का अर्थ दर्शाते हुए आचार्य यास्क लिखते हैं-**ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शत्यौपमन्यवः** अर्थात् ऋषि द्रष्टा होने से स्तोमों को देखा ऐसा आचार्य औपमन्यव का मत है। कितना विरोधाभासी लेख है? एक स्थान पर आचार्य यास्क औपमन्यव के मत में ऋषि को मन्त्रों का कर्त्ता प्रतिपादित कर रहे हैं वहीं दूसरे स्थान पर उनके ही मत में ऋषि को मन्त्रों का द्रष्टा।

इस प्रकार ऐसे कुछ प्रसंग और सिद्धान्त हैं, जो आर्यविद्वानों को स्वीकृत नहीं हैं तथापि निरुक्त की उपादेयता को पूर्णरूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शिवनारायण शर्मा **'निरुक्त के पाँच अध्याय'** नामक पुस्तक की भूमिका में निरुक्त की उपादेयता के विषय में लिखते हैं- ''वैदिक भाषा बहुत जटिल, कठिन और गहन है। उस पर से जब हमारे पुरुषों की पकड़ ढ़ीली होने लगी, वह भाषा दुरूह होने लगी, शब्दों के अर्थ काल के व्यवधान के कारण जब धुँधले पड़ने लगे, तब उन शब्दों को स्पष्ट करने के लिए निरुक्त-पद्धति का आविष्कार हुआ और भाषा की समग्र प्रकृति के अध्ययन के लिए वेद की प्रत्येक शाखाओं के अध्येताओं ने व्याकरण-पद्धति का आविष्कार किया।[२८] दुरूह वेदार्थ ज्ञान के सरलतया अवगमनार्थ निरुक्त की रचना हुई। वैदिक मन्त्रों की व्याख्या और वैदिक देवों के स्वरूप निरूपण के द्वारा आचार्य निरुक्त की वेदार्थ ज्ञान में उपादेयता प्रतिपादित कर चुके हैं। सामान्यतया यास्ककृत निरुक्त के तीन मुख्य प्रयोजन हैं- (क) मन्त्रार्थज्ञान (ख) देवतानिरूपण (ग) निर्वचन। वस्तुतः निर्वचन मन्त्रार्थज्ञान एवं देवतानिरूपण में सहायक हैं। मन्त्रार्थज्ञान एवं देवतानिरूपण साध्य है तथा निर्वचन इसके साधन हैं।

सन्दर्भसूची :-

१. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनु० २/७

२. पितृदेवमनुष्याणां वेदाश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यञ्चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः। मनु० १२/९४

३. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २/६

४. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। मनु० २/१६८

५. (क) ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। महाभाष्य पश्पा०

(ख) तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते। पाणिनीय शिक्षा ४२

६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ३७२

७. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। आचार्य सायण, ऋग्वेदभाष्य, भूमिका

८. एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था निःशेषेण यत्र उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्। आचार्य सायण, ऋग्वेदभाष्य, भूमिका

९. छान्दोग्य ८/३/३

१०. तदिदं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्। निरुक्त १/५/१

११. वेदविद्या, शोधपत्रिका, अंक, २५ पृ० ६३

१२. निरुक्त १/५/१

१३. प्रथम आर्य विद्वत्सम्मेलन, पृ० २९८

१४. निरुक्त ५/१३/१

१५. निरुक्त १०/४६/२

१६. निघण्टु २/७

१७. निरुक्त १/६/१

१८. निरुक्त १/६/२

१९. छान्दोग्य० ७/१/२

२०. निरु० ७/१

२१. ऋग् १०/१० सायणभाष्य

२२. निरुक्त ७/१/४

२३. नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया।

२४. विक्रमाङ्कदेवचरितम् १/२९

२५. प्रथम आर्य विद्वत्सम्मेलन, पृ० २९९

२६. पृ० ३४

२७. पृ० १३४

२८. निरुक्त के पाँच अध्याय, भूमिका, पृ० २

-संस्कृत-विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट,
चम्पावत

निरुक्तस्य वेदाङ्गत्वम्

❑ डॉ. कर्मवीरः...✍

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभुवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदञ्च वेदाङ्गानि च।[१]

इति यास्कवचनात् ये पूर्वऋषयः तपोबलेन समाधौ परमात्मप्रदत्तवेदज्ञानस्य साक्षात्कारं कृतवन्तः ते साक्षात्कृतधर्माणः बभूवुः, ते अवरेभ्यः उत्तरेभ्यः तपोबलहीनेभ्यः इमं ग्रन्थं वेदं वेदाङ्गानि च रचितवन्तः, तथा च पुस्तकरूपेण प्रददुः। चत्वारो वेदाः ऋग्यजुसामाथर्वाः, एषां च शिक्षाकल्पव्याकरण-निरुक्तच्छन्दो ज्योतिर्भदात् षड् वेदाङ्गानि।

शिक्षा- स्वरवर्णादि-उच्चारणनियामकं शास्त्रं वर्तते।

कल्प- वैदिककर्मव्यवस्थापकं शास्त्रम्। एतच्छास्त्रं सूत्रभेदात् चतुर्धा विभज्यते- श्रौतसूत्रम्, गृह्यसूत्रम्, धर्मसूत्रम्, शुल्बसूत्रञ्च। प्रतिवेदं सूत्रशास्त्रं प्रवर्तते।

व्याकरण- पदसाधुत्वविज्ञानाय शब्दनित्यत्वात् इदं खलु शास्त्रं प्रवर्तते। तद्यथा उक्तं-

सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते।।[२]

छन्दः- येनाक्षपरिमाणं तच्छन्दः। छन्दोभिः मन्त्रेषु परिगणित- अक्षराणि भवन्ति। मूलत इमानि सप्त सन्ति। ज्योतिषम्-यज्ञादिविधिसम्पादनार्थं कालक्रमविज्ञानाय ज्योतिषशास्त्रं प्रवर्तते।

निरुक्तम्- एतेन वेदेषु प्रयुक्तस्य एकैकस्य शब्दस्य निर्वचनद्वारा अर्थो निर्दिश्यते। त्रिधा च शब्दा भवन्ति प्रत्यक्षवृत्तिमन्तः परोक्षवृत्तिमन्तः अतिपरोक्षवृत्तिमन्तश्च। प्रत्यक्षवृत्तिमन्तः ते शब्दाः प्रकृतिप्रत्यानां स्पष्टतया ज्ञानं भवति। येषाञ्च गन्धमात्रेणे प्रकृतिप्रत्ययज्ञानं भवति ते परोक्षवृत्तिमन्तः, येषां च किञ्चिन्मात्रमपि न भवति। तेऽतिपरोक्षवृत्तिमन्त शब्दाः। तेषु प्रत्यक्षवृत्तिमताम् शब्दानाम् अर्थज्ञानं व्याकरणादेव सिद्धम्, परं परोक्षातिपरोक्षवृत्तिमतां शब्दानाम् अर्थज्ञानं निरुक्तेन कार्यते। निर्वचनमाध्यमेन तद्यथा **निघण्टुः** इति अतिपरोक्षवृत्तिमान्। **निगन्तु** इति परोक्षवृत्तिमान् **निगमयितारः** इति प्रत्यक्षवृत्तिमान् वर्तते।[३]

नैघण्टुकम्- नैगम-दैवतकाण्डेषु विभक्तमिदं शास्त्रमविज्ञायैव ये वेदानां, वेदमन्त्राणाम् अर्थं कुर्वन्ति तेऽनर्थकारिणः वर्तन्ते। तैः अनभिज्ञैः एव अनर्थः प्रतिपादितः। मन्त्रार्थावबोधे निरुक्तस्य तावती आवश्यकता; यथा शरीरे विभिन्नकर्णादि-अङ्गानाम्। तद्यथा- **गौः** इति पदस्य बहवो अर्थाः सन्ति परं लोके **गौः** इत्यनेन **गाय** इत्यभिधीयते। निरुक्तनिर्वचनात् तावत् वेदे- **१. गौः** इति **पृथिवी** नामधेयम्। तत्र गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्=**गोषदसि** इत्यादयः प्रयोगाः दृश्यते।[४]

२. अथापि **पशुनाम** इह भवति एतस्मादेव। **यत् दूरं गता भवति** इति कर्त्तरि **यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति** इति अधिकरणे कारके **पशुः** गृह्यते।[५] यतो हि अयं पशुः मार्गे चरन् अतिदूरं गच्छति। तथा च अस्मिन् प्राणिनः स्थित्वा दूरं गच्छन्ति। वस्तूनि च वहन्ति। भारोपीयभाषायां गौः शब्दः सामान्यतया पशुवाचको वर्तते।[६]

३.अथापि अस्यां तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमाः भवन्ति अर्थात् तद्धितप्रत्ययवत् निर्वचनं भवति। तस्यार्थः गौः इदं तदपि गौः। तद्यथा- **आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना। गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।।**

इत्यत्र गो इति पदेन पयः गृह्ययते। तेन दुग्धेन= पयसा सह मत्सरम्= सोमम्। इदम् अविज्ञाय एवं बलिदानं कुर्वन्ति अतएव यास्कः सुहृद् भूत्वा अन्वाचष्टे **पयः=दुग्धम्** इति।[७]

४. अथापि **चर्म** च **श्लेष्मा**=सरेंस, अपि **गौ** पदस्य अर्थौ भवतः तद्यथा- गोभिः सन्नद्धा असि वीडयस्व।।[८] अयं

रथस्तुतौ प्रयुक्तमर्थात् हे रथ! त्वं चर्मणा, श्लेमणा=(सरेंस इति हिन्द्याम्) च दृढतया **बद्धः** असि वीरत्वं दर्शय।

५. ज्या=प्रत्यञ्चा अपि गौः उच्यते। यतो हि गमयति इषून् इति कृत्वा मौञ्जी-आदयः धनुः प्रत्यञ्चाः गृह्यन्ते। तद्यथा मन्त्रे-

वृक्षे-वृक्षे नियतामीमयत् गौस्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः।।[९]

अत्र वृक्षाविकारत्वात् धनुषो वृक्ष इति कथ्यते। अर्थात् यदा वृक्षे-वृक्षे=धनुषि, गौः=प्रत्यञ्चः आरुह्यन्ते तदा बाणाः शत्रुपक्षे पक्षिवत् पतन्ति।

६. आदित्यः=सूर्यः गौः उच्यते। तद्यथा मन्त्रे-

उतादः परुषे गवि।[१०] अर्थात् सूर्यचन्द्रादयः यस्य लोकाः सन्ति स परमात्मा गवि=सूर्ये सुवर्ण इव देदीप्यमानं चक्रं चालयति।

७. सूर्यस्य सहस्त्रसंख्याकाः रश्मयः तासु **सुषुम्णा** नाम्नी रश्मिः **गौः** इति उच्यते। सुषुम्णारश्मिमाध्यमेन च चन्द्रकाः रात्रौ प्रकाशन्ते अर्थात् सूर्यस्य सुषुम्णानाम्नीं रश्मिं चन्द्रः रात्रौ धारयति अतो गन्धर्वः उच्यते। तद्यथा मन्त्रे-

**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः गन्धर्वः तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।।**[११]

८. सूर्यस्य अन्याः नवत्त्युत्तरनवशतम् अपि रश्मयः गौः इति उच्यते तद्यथा मन्त्रे-

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।।[१२]

९. गौः इत्यनेन **वाणी** इत्यादयः अर्थाः अपि गृह्यन्ते। परं मन्त्रार्थकरणे प्रकरणम् अवश्यमेव चिन्त्यम्। एवं प्रकरणं विहाय निरुक्तं च विहाय कदाचिदपि अर्थो न कार्यो न श्रोतव्योऽन्यथा सर्वं खलु अशुद्धं भवति।

सन्दर्भसूची :-

१. निरुक्तम्-१/१९
२. महाभाष्यम्- १/१/१९
३. निरुक्तम्-१/१/१
४. निरुक्तम्-२/२/५
५.निरुक्तम्-२/२/५
६. दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क तथा वाचस्पत्यम्
७. वैदिककोषः, पृ. ३४६
८. ऋग्वेदः- ६/४७/२६
९. ऋग्वेदः- १०/२७/२२
१०. ऋग्वेदः- ६/४६/३
११. यजुर्वेदः- १८/४०
१२. ऋग्वेदः- १/१५४/६

**- प्राध्यापकः,
हिन्दू-कॉलेज, मुरादाबादनरम् (उ.प्र.)**

**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥**

विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है। और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण विद्वान् कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्द रूप फल भी होता है। अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जानने वाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है।

-स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठनपाठनविषयः

व्याकरणशास्त्रस्य वैज्ञानिकमहत्त्वम्

❑ डॉ. देवदत्तसरोदेः...✍

संस्कृतं नाम दैवीवाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः इति दण्डिनः वचनं साम्रेडं विपश्चिद्भिः उच्यते, सैषा संस्कृतभाषा द्विधा वर्ण्यते वैदिकी, लौकिकी इति। अत एव भाष्यकारोऽपि आह **केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानाञ्च इति।** भाषायाः कृत्स्नस्वरूपम् अवगन्तुं व्याकरणं महदुपकरोति, अर्थबोधाय भाषायां पदानि प्रभवन्ति, शब्दान् अन्तरेण भाषाबोधः दुष्कारयते, अत एव भर्तृहरिः आह -

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दाः एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधशब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥

अपि च

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

एतादृशैः नानावचनैः संस्कृतव्याकरणस्य महत्वं जोघुष्यते, अत एव व्याकरणशास्त्रस्य वैज्ञानिकमहत्वम् इति विचारः प्रस्तूयते।

संस्कृतभाषायां व्याकरणमिति पदम् वि,आङ्पूर्वकं कृञ् धातोः करणसाधने ल्युट्प्रत्यये निष्पन्नम्। व्याक्रियन्ते (व्युत्पाद्यन्ते) शब्दाः अनेनेति व्याकरणम् (म.भाष्य १।१।१६ वा.) इति प्रकृतिप्रत्ययविभागशः शब्दसाधुत्वं प्रतिपाद्यते। यजुर्वेदे सर्वादौ विश्लेषणार्थे व्या कृ धातोः प्रयोगो दृश्यते। तद्यथा - **दृष्ट्वारूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः (यजुः - १९.७७)।** इति, इन्द्र एव सर्वप्रथमः प्रकृतिप्रत्यय-विश्लेषणस्य प्रवर्तकः। तथा च - **वाग्वै पराच्य व्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति।....तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।**(तैत्ति.सं. ६.४.७)।

पतञ्जलिस्तु व्याकरणमेवमाह - **लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्,** लक्ष्यञ्च (उदाहरणानि शब्दाः) लक्षणञ्च (सूत्राणि) एतत् समुदितं व्याकरणं भवति। (म.भाष्य १.१.१९वा.पस्पशा.)। व्याकरणस्य अपरनामधेयं शब्दानुशासनम्। व्याकरणं खलु साधुशब्दान् शास्ति। उच्यते च -

असाधुशब्दावधिकसाधुशब्दकर्मकपृथक्कृति-प्रयोजकनियमविशेषो व्याकरणम्।

व्याकरणस्य बीजानि वेदब्राह्मणोपनिषत्सु स्पष्टतया आलक्ष्यन्ते। तद्यथा-

वृत्रं हनति वृत्रहा। (यजु. ३३.९६)
अमावस्या मा मा वसन्ति सुकृतः।(अथर्व. ७.७९.२)
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। (ऋ.१.१६४.५८.३)
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः। (ऋ. ४.५८.३)
चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि। (ऋ. १.१६४.४५)

गोपथब्रह्मणे तु स्पष्टतया व्याकरणस्य भाषाशास्त्रीयशब्दानां प्रयोगो दृश्यते- **ओंकारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्।(गो. ब्रा. पूर्व. १.२४)**

व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वम्- व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वमिति प्राचीनतम उल्लेखो मुण्डकोपनिषदि विद्यते। तद्यथा-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः,
शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो,
ज्योतिषमिति। (मुण्ड. १.१.५)

अपि च- याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्-

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु।।

इह वेदपुरूषस्य अङ्गत्वेन वदाङ्गानि वर्ण्यन्ते-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्यमात् साङ्गमधीत्यैव ब्राह्मलोके महीयते।।
(पा. शि. श्लो. ४१,४२)

अत्र व्याकरणं मुखत्वेन वर्णितम्। यथा शरीरे मुखस्य प्राधान्यं भवति तद्वद्व्याकरणस्य वेदाङ्गेषु मुख्यत्वं विद्यते। अतः भाष्यकार आह– ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। प्रधानञ्च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्(म.भाष्य.पस्पशा.)। प्रकृतिप्रत्यययोः, ध्वनिस्फोटयोः, शब्दयोः आकृतिद्रव्ययोः, पदवाक्ययोः, पदपदार्थयोः, विवेचनं, विश्लेषणं, व्याकरणस्य प्रयोजकत्वेनावतिष्ठते। एतस्माद् व्याकरणस्य प्राधान्यं सुवचम्। व्ययाकरणं वेदाङ्गेषु उररीक्रियते। शब्दाधीनं जगत् शब्दश्च मुखेनोच्चारणीयः, अतः तत्साधनत्वेन व्याकरणमपि शब्दब्राह्मणे मुखरूपमस्ति। यथा मुखं सौन्दर्यार्थकं तथैव व्याकरणमपि भाषायाः साधुत्त्वप्रतिपादनेन सौन्दर्याधायकम्। मुखं भाषणसाधनं तथैव व्याकरणमपि परिष्कृतशब्दप्रयोगसाधनम्। व्याकरणमेव शब्दप्रकाशनेन स्वमनोगतभावाविर्भावकम् अन्तर्निहितविचाररप्रसारकम्। यथा शरीरावयवेषु मुखस्योत्कृष्टत्वं न केनापि आक्षिप्यते तथैव भाषातत्त्वविवेचने शब्दज्ञानमूलकत्वेन शब्दशास्त्रावगाहनेन वाक्यतत्त्वविवेचनेन शब्दब्रह्मस्वरूपप्रकाशनेन व्याकरणस्य शास्त्रेषु सर्वोत्कृष्टत्वं सिद्धम्।

वेदाङ्गोत्पत्तिः-

अपौरूषेया हि खलु वेदाः। वेदानां स्वतः प्रामाण्यं विद्यते। धर्माधर्मयोः कर्तव्ययोः सदसदोः विवेकाय वेदा एव प्रमाणास्पदानि। अत एव मनुनाऽप्युक्तम्–

अर्थकामोष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।(मनु. २.३)

धर्मविवेकाय श्रुतिज्ञानमपेक्षितम्। पुरा मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः मन्त्रान् साक्षात् कुर्वन्ति स्म। अयं कालः साक्षात्कारकालः दर्शनकालो वा। दृष्टस्य वेदज्ञानस्य अन्येभ्यः प्रदानाय उपदेशेन मन्त्रज्ञानं प्रयच्छन्ति स्म। अयं मन्त्रोपदेशकालः सम्प्रदानकाल इति बोध्यम्। अतः परं समाम्नानकालः। अस्मिन् समये मन्त्रा उपदिष्टाऽपि वेदार्थग्रहणे जना असमर्था जाताः तदा वेदाङ्गानां रचनाऽभवत्।

तथा चोक्तं निरुक्ते– **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कारत्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च॥(निरु. १.२०)।** वेदाङ्गानि षड् वर्तन्ते तेषु अन्यतमं व्याकरणम्। व्याकरणग्रन्थान् त्रिधा विभजन्ति तद्विदः– प्रथमाः– वैदिकाः छन्दसाः प्रातिशाख्याभिधाः। द्वितीयाः– लौकिकाः कातन्त्रादयः। तृतीयाः– उभयविधा वैदिकलौकिकाः पाणिनीयादयः। तत्र प्रातिशाख्यानि चरणविशेषसम्बद्धानि वर्णोच्चारणस्वरसन्धिप्रतिपादनपराणि इति शिक्षावेदाङ्गेऽन्तर्भवन्ति।

लौकिकानि व्याकरणानि कातन्त्रादीनि वेदाङ्गे नान्तर्भवन्ति यतः इमानि लौकिकानि सन्ति। न हि किञ्चिदत्र वेदोपकारकत्वमालक्ष्यते। अतः सम्प्रति पाणिनीयमेकमेव तन्त्रं वेदाङ्गत्वेन सर्वैरभ्यनुज्ञायते। तथा चाह पतञ्जलिः – सर्ववेदपारिषं हीदं शास्त्रम्। पाणिनयतन्त्रे लौकिकवैदिकव्याकरणं वर्तते। आह च भाष्यकारः केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानाञ्च। (म.भा.पस्पशा)।

शिक्षा व्याकरणं निरुक्तञ्च–षट्सु वेदाङ्गेषु त्रीणि इमानि वेदाङ्गानि भाषाशास्त्रीयदृष्ट्या भाषायाः मुख्यघटकानां विवेचनं विश्लेषणं कुर्वन्ति। भाषायाः मुख्य घटकाः–१. वर्णाः। २. ध्वनयः। ३.पदानि शब्दव्युत्पत्तिः। ४. पदार्थाः शब्दार्थनिर्णयनिर्वचम्। ५. वाक्यानि।

वर्णध्वनीनां विवेचनं शिक्षासु क्रियते। वर्णानां सवर्णत्वं, शब्दव्युत्पत्तिः, वाक्यार्थबोधश्च व्याकरणेने क्रियते। शब्दार्थनिश्चयः पदानां निर्वचनं वा निरुक्ते विधीयते, व्याकरणस्य एकांशभूताः वर्णाः शिक्षायां विविच्यन्ते। वर्णानां स्थानप्रयत्नादि अत्र वर्ण्यते– 'तदेकदेशस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति न्यायेन, शिक्षायपाणि प्रातिशाख्यानि वेदस्य व्याकरणानि मन्यन्ते विपश्चिदः

निरुक्तकारो यास्कः निरुक्तं व्याकरणस्य कात्स्न्यं वर्तते इत्याह। अतः निर्वचनप्रसङ्गे वैयाकरणानां मतानि प्रदर्शयन् स आत्मनः समकालिकान् वैयाकरणान् सस्मार। ते च वैयाकरणाः– १. गाग्यः। २. औपमन्यवाः। ३. औदुम्बरायणः। ४. कौत्सः इत्येतान् अतिरिच्य प्राचीननान् वैयाकरणान् अपि उल्लिलेख। ते च वैयाकरणाः – १. अग्रायणः। २. आग्रायणः। ३. चर्मशीराः। ४. गालवाः। ५. काथक्याः। ६. क्रौष्टुकिः। ७. नैदानाः। ८. परिव्राजकाः। ९. पाषदानि। १०. शतबलाक्षाः। ११. शाकपुणिः। १२. स्थौलाष्ठिविः। १३. याजनिकाः। १४. वार्षायणिः।

यास्कस्य काले व्याकरणं सुप्रतिष्ठितमवर्तत इति नानाव्यासकरणशालाः प्रावर्तन्त इति च प्रतिभाति। पूर्वोक्तविवरणेन व्याकरणनिरूक्तयोः अविनाभावसम्बन्धो वर्तते इति अवगम्यते।

व्याकरणस्य प्रयोजनानि –

व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनं शब्दानुशासनम् अथवा शब्दसाधुत्वप्रतिपादनम् अस्ति। केचन तु व्याकरणमनर्थकं मन्वते लोकात् लौकिकाः शब्दाः ज्ञायन्ते, वेदाच्च वैदिकाः। अतः अनर्थकं व्याकरणम् इति तेषां मतम्। वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः, लोकाच्च लौकिकाः अनर्थकं व्याकरणम् इति। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रं अन्वाचष्टे। (म.भा.पस्पशा)।

व्याकरणमहाभाष्ये पञ्च मुख्यानि प्रयोजनानि रक्षोहागमलघ्वसंदेहा इति उक्त्वा तेऽसुराः विभक्तिं कुर्वन्ति इत्यादिनि त्रयोदश आनुषङ्गिकानि प्रयोजनानि प्राह भाष्यकारः। वसतुतः व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनं अन्यशास्त्राणामिव मोक्षो विद्यते। यथा साहित्यस्य चतुर्वर्गफलप्राप्तिप्रयोलनमुक्तम्। तथैव इहापि मोक्षप्राप्तिः प्रयोजनत्वेन तिष्ठति। तद्यथा –

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याम् आ विवेश॥ (ऋ. १.५८.१३)

इत्यत्र भाष्यकारः – महता देवेन नः साम्यं यथा स्याद् इत्याहा। तथा च भर्तृहरिः –

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा माक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥(वा.प्र.ब्रा. का. १६)

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्गलानां चिकित्सकम्।
पवित्रं सर्वविद्यानाम् अधिविद्यं प्रकाशते॥(वा.प्र.ब्रा. का. १४)

एभिः प्रमाणैर्ज्ञायते यत् व्याकरणस्य सत्सु अपि अन्येषु प्रयोजनेषु निश्रेयसोऽवाप्तिरपि प्रयोजनपरमेव।

व्याकरणस्य महत्त्वम् –

व्याकरणमन्तरेण संस्कृतं सम्यक् अधिगन्तुं न पार्यते। अत उव दण्डिना काव्यादर्शे उक्तम् –

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (काव्यादर्शः १.१४)

व्याकरणमन्तरा लोकत्रयं तमसावृतं स्यात्। यथा ज्योतिः आसांसारं स्वीयप्रकाशकिरणैः प्रकाशयति तद्वत् व्याकरणं कृत्स्नभाषामवबोधयति। अर्थतत्त्वावबोधः व्याकरणाधीनः एवं। तथा च भर्तृहरिः –

अर्थप्रवृत्तिः तत्त्वानां शब्दा उव निबन्धनम्।
तत्त्वाऽवबोधश्शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥ (वा. प.ब्रा.का. १.१३)

इदं पदार्थज्ञानं, विभक्तिपरिज्ञानं च सर्वसाधकं भवति एत उव सर्वशास्त्राणि व्याकरणशास्त्रमूलकानि। तथा चोक्तम्–

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः (काव्यादर्शः) व्याकरणमूलत्वान् सर्वविद्यानाम् तेन विना मामान्यबोधोऽपि न जायेत। अत एव उक्तम् –

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥ (प.म.)
पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम्।
सर्वोपमारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन॥

किञ्च – '**कणादं प्राणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्।**

प्रायः सवैः शास्त्रकारै वार्क्याबोधं प्रति शक्तिग्रहं

सहकारिकारणमिति प्रतिपाद्यते। तादृशशक्तिज्ञान-सम्पादकोपाया: अष्टौ वर्णिता:। तत्रापि व्याकरणस्यैव प्रथमं स्थानं विद्यते। यथा -

शक्तिग्रहं वयाकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥(शब्दशक्तिप्रकाशिका. २०, न्याय. सिद्धान्तमुक्तावली)

व्याकणमन्तरेण कथं शुद्धशब्ज्ञानम्? शुद्धशब्दज्ञानमन्तरेण भाषा बोधो न भवति। साधुभाषां विना व्यावहारो नोपपद्येत। व्यवहाराद् ऋते कथङ्कारं जीवनं यापयेत्। अत: सम्यग् भाषाधिगमाय व्याकरणमेव शरणम्।

सहस्राणि वर्षाणि अतिक्रान्तानि। पुनरपि संस्कतवाङ्मयमर्थबोधे सुकरमेव विद्यते न तु दुष्करमत्र हेतु: अस्य व्यवस्थितं व्याकरणम् अत: व्याकरणस्य महत्त्वं निर्विवादतथ्यम्। पुराकाले व्याकरणस्य अनेका: शाला आसन्। यथा व्याकरणेदाहरणेषु - व्याडिशाला, काश्कृत्स्नशाला, शाकटाायनशाला अति आलक्ष्यन्ते। व्यसाकरणपरम्परायाम् अष्टव्याकरणपरम्परा: प्रसिद्धा आसन् -

ब्राह्ममैशानमैन्द्रं च प्रजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥
(हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि)

अपरत्र वैष्णवग्रन्थे श्रीतत्त्वनिधौ नवव्याकरणानि -

ऐन्द्र चान्द्रं काशकृत्स्नं कोमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्।

साम्प्रतिके काले प्रसिद्धं व्याकरणं पाणिनीयं विद्यते। वस्तुत: पाणिनीना व्याकरणशास्त्रं प्रोक्तं न तु कृतम्। पूर्वाचायै: विरचितानि व्याकरणानि परिष्कृत्य परिपूर्णं सारभूतं शास्त्रं प्रोवाच आचार्य: पाणिनि:। तथा च पदमञ्जरीकार: हरदत्त आह - **कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, पिशलिना तर्हि केनावगतम्? ततः पूर्वेण व्याकरणेन अपि च - पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन् आपिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, उवमापिशलि:। (प.म, अथशब्दानुशासनम्)**

शि सर्वनामस्थानम् इति (अष्टा. १.१.४२) सूत्रस्य न्यासे न्यायकार: आह यत् सर्वनामस्थानम् इति महती संज्ञा पूर्वचार्याणाम् अवर्तत। एषा अनर्थका महती संज्ञा पूर्वाचार्याणां शास्त्रगौरवमुपलक्षणेन स्वसूत्रे प्रादर्शि सूकारेण। अनेनापि ज्ञायते पाणिनिना पूर्वाचार्याणां व्याकरणेभ्य: संगृह्य शास्त्रं प्रोक्तम्। पूर्वाचार्याणां मतान्यपि स्वीयव्याकणशास्त्रस्य सूत्रेषु उपन्यस्तानि।

पाणिने: व्याकरणस्य प्रसिद्धिर्व्याकरणजगति भृशमभूत्। तेन पाणिने: पूर्ववार्तिव्याकरणानि परवर्तिव्याकरणानि च अभिभूतानि पाणिनेर्व्याकरणस्य यश: कुमारच्छात्रेष्वपि प्रथितमभूतम्। तथा च- आकुमारं यश: पाणिने:। (महा. १.४.८९) इति उदाहरणेन ज्ञायते।

पाणिनीयसंस्कृतव्याकरणस्य वैशिष्ट्यानि-

सन्ति नाम लोके नैकानि शास्त्राणि आत्मन: गुणविशेषै: विशिष्टं स्थानं भजन्ति। परन्तु पाणिनीयव्याकरणतन्त्रमस्ति अनन्यसाधारणं ये सर्वशास्त्रेषु गुाातिरेकात् मूर्धनि विराजते। पाणिनीयतन्त्रस्य प्राच्यपाश्चात्यपिद्वत्सु प्राचीनाधुनिकशास्त्रेष्ज़ु विशेषप्रभावो दरीदृश्यते। अस्य सार्वकालिकं सार्वभौममहत्त्वमभिलक्ष्य तन्त्रमेतत् एतावति देर्घकालेऽतिक्रान्तेऽपि अद्यावधि नूतनं परिष्कृतमणिरिव चकास्ति।

पाणिनिव्याकरणस्य वैज्ञानिकमहत्त्वम्

१. रचनालाघवे सत्यपि शास्त्रसमग्रतां परिपमर्णतां च निधाय सम्पूर्णं व्याकरणं केवलमुपचतु: सहस्रसूत्रेषु निबद्धमिति महदेतद् आश्चर्यकरम्। कृत्स्नं वैदिकलौकिकसंस्कृतवाङ्मयमेभि: सूत्रै: सुबद्धमभवत्। यत्र परिष्कारस्य, परिवर्धनस्य, परिवर्तनस्य चावश्यकता न समजनि अत एव भाष्यकार आह- प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणि: शुचाववकाशे प्राङ्मुखमुपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणस्यति स्म। तत्राऽशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितु, किं पुनरियता सूत्रेण। (म. भाष्य. १.१.१ आ.२) 2. चतुर्दशप्रत्याहारसूत्रेषु

अक्षरसमाम्नायस्य योऽयं क्रम उपस्थापितः तस्य च प्रत्याहारैः व्याकरणसूत्रेषु विनियोगेन शास्त्रं संक्षिप्तं सारमयं बोधगम्यञ्च सम्पद्यते।

3. इह शास्त्रे अनुवृत्त्या, अधिकारेण सूत्रस्थपदानां पुनरुक्तिः प्रतिषिद्धा भवति, तेन शास्त्रे लाघवं जायते। सूत्रक्रमश्च समादृतो भवति।

4. षट्प्रकारकाणां सूत्राणां निर्माणं समुचितक्रमे अपस्थापनात् शब्दसिद्धिः सुष्ठु जायते।

5. गणपाठः गणसूत्राणि, धातुपाठः, उणादिकोशः, सर्वेषामेतेषां सुव्यवस्थितनियोजनम् अशेषविषयसंग्रहणं दोषविवर्जनं विशाल विश्वकोशसंग्रह इव प्रतिभाति। अतो भाष्यकारोऽवोचत् – पाणिनीयं महत् सुविहितम्। (म. भाष्य. 4.2.66)

6. इह शास्त्रे संस्कृतवाङ्मयस्थपदानां सामान्यत्वमाश्रिम्य सामान्यत्वमाश्रित्य सामान्यसूत्राणि (उत्सर्गसूत्राणि) विशेषमाधृत्य अपवादसूत्राणि निर्माय अनन्तशब्दसमूहं परिमितैः सूत्रैः सान्तं परिमितं चकार भगवान् पाणिनिः।

7. धातुः ततः कृत प्रत्ययाः, तस्मात् कृदन्ताः, धातोः तिङ्प्रत्ययाः, तिङ्न्तानि पदानि, सुप्धातुतः प्रत्ययाः, प्रातिपदिकात् स्त्रीतद्धितप्रत्ययाः ततः नानाशब्दसिद्धयः। इत्थं नानाशब्दनिर्माणसामर्थ्यम्।

8. मीमांसकाः, नैयायिकाः, वेदान्तिनः शाब्दबोधविषये परस्परं विवन्दते। परन्तु पाणिनीयतन्त्रविषये तेषां समानादरो विद्यते।

9. लौकिकवैदिकशब्दानां स्वरविषये सर्वातिशयसूक्ष्मता, अस्मिन् शास्त्रे विद्यते। अत उव उदक्च विपाश (4/2/74) इति सूत्रे काशिकाकारः आह – 'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य'

10. पाणिनिव्याकरणरचनावैशिष्ट्यम् आधुनिकसंगणक-वैज्ञानिकान् विस्माययति प्रेरयति च। आधुनिकसंगणक-नियोजनम् **(computer programming)** इव पाणिनिरचनायामपि नियोजनं **(programming)** वर्तत इति।

11. पाणिनितन्त्रे भाषायाः स्वरस्य च सम्पूर्णमणुम् यावत् कृत्स्नं विराट् स्वरूपं समग्रं संगृहीतम् अनपेक्षितं न किञ्चिद् गृहीतम्, अपेक्षितं न किञ्चित् परित्यक्तम् अशेषभाषावयवानां सुसूक्ष्मतया पर्यालोचनं विहितम्।

12. पाणिनिव्याकरणं 1. अष्टाध्यायी। 2. धातुपाठः। 3. गणपाठः। 4. उणादिकोशः। 5. लिङ्गानुशासनम् इति पञ्चाङ्गं वर्तते। कृत्स्नं व्याकरणमेषु पञ्चसु संभवति पाणिनिः पञ्चग्रन्थान् परिष्कृत्य सर्वाङ्गपूर्णं शास्त्रं प्रवोच यदत्र लाघवं तु वर्तते परन्तु अल्पत्वमिह परापेक्षत्वं परावलम्बनत्वं नास्ति।

13. शास्त्ररचनाप्रसङ्गे सर्वविधलौकिकशास्त्रीयन्यायानां पारिभाषिकपदानां परिभाषाणां संज्ञानां स्वीयतन्त्रस्य नियमानां सुव्यवस्थितरचना कृता। किञ्च शास्त्रकारस्य स्वकीयाभिप्रायः इङ्गितेन चेष्टितेन सूत्रे प्रयुक्तपदैः, व्यवहारेण लक्ष्यते।

14. अष्टाध्यायीसूत्राणां सूत्रार्थः कथं करणीयः। एतदपि स्वीयतन्त्रे शास्त्रारम्भे सूचितः। तद्यथा तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, तस्मादित्युत्तरस्य, षष्ठी स्थाने योगा, आदेः परस्य, अलोऽन्त्यस्य, अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, इति एतासां विभक्तीनां सूत्राथप्रसङ्गे कोऽर्थो जायते इति पूर्वोक्तैः सूत्रैः प्रदर्शितः।

15. सर्वाणि प्रकरणानि सुसम्बद्धानि सुव्यवस्थितानि कृत्वा परिपूर्णं निर्दुष्टं शास्त्रं रचयामास। एतत्समीक्ष्यैव भाष्यकारः आह– सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिद् अस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्याद्।(म. भाष्य. 6/1/77)

16. विद्यमानेषु सर्वेषु व्याकरणेषु लौकिकं वैदिकं व्याकरणं वेदाङ्गञ्च पाणिनीयव्याकरणं परिपूर्णं निर्दुष्टं सुविहितं विद्यते।

पाणिनिव्याकरणस्य महत्वविषये पाश्चात्यविदुषां मातनि–

1. प्रो. मोनियर विलियम्स आह– संस्कृतव्याकरणं मानवबुद्धेः प्रतिभायाः विस्मयकरमुदाहरणं विद्यते यद् आधुनावधि नैकेनापि देशेन प्रस्तुतम्।

2. प्रो. फेड्रिक मैक्समूलरः– हिन्दुनां व्याकरणरचनापाटवं यावत् प्रपञ्चस्य कस्या अपि जातेः व्याकरणम् अतिशेते।

3. कोलब्रुक्– संस्कृतव्याकरणनियमाः महता प्रयत्नेन अप्रमत्तेन विरचिताः, तेषां शैली अत्यन्तप्रतिभा पूर्णा आसीत्।

4. सर् जे. जे. हण्टरः अवाचत्– विश्वस्य व्याकरणेषु पाणिनेः व्याकरणं मूर्धनि राजते। तस्य वर्णशुद्धता, भाषायाः धात्वन्वयसिद्धान्तः प्रयोगविधयश्च अद्वितीयाः अपूर्वाः सन्ति। एतत् मानवमतेः। अत्यन्तमहत्व पूणाविष्कारः।

5. प्रो. शेरवात्सकी.... पाणिनिव्याकरणं मानवबुद्धेः सर्वोत्कृष्टरचनासु अन्यतमा।

सन्दर्भ ग्रन्थाः –

1. वाक्यपदीयं, चारूदेवशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली।
2. अष्टाध्यायी, सम्पा. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलालकपूर ट्रस्ट रेवली 1998 हरियाणा।
3. काशिका, सम्पा. आचार्यविजयपालविद्यावारिधि, रामलालकपूर ट्रस्ट रेवली 1998 हरियाणा।
4. पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्, भार्गव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1987 दिल्ली।
5. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल चौखम्बा विद्याभवन 1996 वाराणसी।
6. संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक, रामलालकपूर ट्रस्ट रेवली हरियाणा।
7. भाषा, ब्लुम्फिल्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
8. भाषा विज्ञान की भारतीयपरम्परा और पाणिनि, डॉ. रामदेव त्रिपाठी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना।

– वरिष्ठसहायकाचार्यः,
शिक्षाशास्त्रविभागः,
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, मानितविश्वविद्यालयः,
क.जे.सोमैयासंस्कृतविद्यापीठम्,
विद्याविहार, मुम्बई–७७

शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ?

रक्षोहागमलघ्वसंन्देहाः प्रयोजनम्।

रक्षा – रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यति।

ऊहः – ऊहः खल्वपि – न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

आगमः – ब्राह्मणेन निष्कारणे धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलावान्भवति।

लघुः – लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्।

असन्देहः – असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति – स्थूलपृषतीमाग्निवारुणी-मनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां संदेहः – स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यास्या सा स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः। अथान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुषः इति। – **व्याकरणमहाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्**

वर्त्तमान में वेदाङ्गों की प्रासंगिकता

❑ डॉ. महेश पाण्डेय 'बजरंग'...✍

वेदांगों का परिचय– विद् (जानना) धातु से निष्पन्न वेद शब्द का शाब्दिक अर्थ है–ज्ञान। इस रूप में वेद को ज्ञान का अनंत भण्डार माना जाता है। वेद शब्द की व्युपत्ति इस प्रकार भी की गई है–

विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यते वा एभिधर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः।

इनसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थो को जाना जाता है या प्राप्त किया जाता है, उसे वेद कहा जाता है। सायण ने लिखा है–प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा हम जिनको नही जान पाते है, उसको वेद के द्वारा जान लेते है। स्वामी दयानन्द ने वेद की परिभाषा इस प्रकार की है–

विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति
सर्वाविद्यायैर्मेषु वा सा वेदः॥

अर्थात् जिनके द्वारा हम सभी विद्याओं को जानते है और जिनमें सभी क्रियाएँ निहित है,वे वेद है।

वेद शब्द व्यवहार में सदैव बहुवचन होता हे। अर्थात् वेद है, ऐसा न कहकर वेद हैं, ऐसा कहा गया है। वेद कोई धर्म ग्रन्थ नहीं है,वरन् ज्ञान की अमूल्य निधि है। साहित्य का वह भण्डार है,जिसका प्रादुर्भाव शताब्दियों में भारत के ऋषियों की अनेक पीढियों द्वारा हुआ। भारत के प्राचीन मनीषियों ने विश्व के आध्यात्मिक चिंतन विषयक चिरंतन तत्त्वों को ही वेद में प्रस्तुत किया है।[१]

वेद भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रंथ है तथा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयाम तथा धर्म साहित्य, सभ्यता एवं दर्शन आदि सम्पूर्ण समावेश वेदों में निहित है। भारतीय परम्पररा के अनुसार वेद किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है, इसीलिये वेदों को अपौरुषेप भी माना जाता है। पुराणों और स्मृतियों में भी वेद की प्रशंसा की गई है। मनुस्मृति वेद निन्दक को नास्तिक कहा गया है– **नास्तिको वेद निन्दकः।**[२]

वेद और वैदिक साहित्य भिन्न भिन्न है, जिनसे भिन्न–भिन्न अर्थो का बोध होता है। वेद से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अर्थवेद का ग्रहण किया जाता है, जबकि वैदिक साहित्य से वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण वाङ्मय का बोध होता है। जिसके अन्तर्गत संहिता, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांग समाहित है। संहिता में ऋषियों मुनियों के अनुभवसिद्धविचार मंत्र के रूप में संगृहीत है। संहिता के चार भाव है, ऋक्., साम., यजुः. और अथर्व.। समयानुसार कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञाान काण्ड के आधार पर ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् ग्रंथों की रचना हुई। ब्राह्मण भाग में मत्रों के विधि भाग का विवेचन किया गया है। आरण्यक उनके लिये है,जो एंकात में वन में रहकर भगवान की उपासना करते है। उपनिषद् वेद के अंतिम भाग है। इसमें वैदिक मंत्रों की दार्शनिक व्याख्या की गई है। इससे इन्हे। ज्ञानकाण्ड से भी जाना जाता है।

वेदों के स्वरूप की रक्षा करने के लिये और उनके अर्थो को समझने के लिये भारतीय ऋषियों ने वेदांग साहित्य की रचना की। वेदांग शब्द का अर्थ है–

वेदा अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिः इति वेदाङ्गानि।

अर्थात् जिनसे वेदों के अर्थो को जाना जाता है, वे वेदांग है। वेदांग वेदों के भाग नही है,

अपितु वे वेदों के स्वरूप के रक्षक है एवं अर्थों को समझाने वाले है। वेदांगों को पढ़े बिना वेदों का अध्ययन अधूरा ही रहता है। प्राचीन ऋषियों का कहना था, कि ब्राह्मण को निष्कारण ही छः अगों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए।[३]

वेदांग सहित्य में प्रायः सूत्र शैली को अपनाया गया हैं कुछ विद्वानों ने इसे सूत्र साहित्य भी कहा है। ये वेद के अध्ययन में पूर्व रूप से सहायक है।

वेदांग छः हैं,जो निम्न है–

१. शिक्षा
२. कल्प
३. व्याकरण
४. निरुक्त
५. छन्दः
६. ज्योतिष्

१. शिक्षा–

वेदांगों में शिक्षा वेदांग का प्रथम स्थान है। इससे ही यह अधिक महत्वपूर्ण है। पुरुष के अंगों से तुलना करते हुये शिक्षा को वेदरूपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) कहा गया है।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।–(पाणिनीय शिक्षा)

वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेद भाष्य भूमिका में शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है।

स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्रोपदिष्यते सा शिक्षा।[४]

अर्थात् जिस वेदांग में स्वर और वर्ण आदि के उच्चारण की रीति का उपदेश दिया जाता है, वह शिक्षा वेदांग है। वेद के शुद्ध पाठ के समस्त नियम इस वेदांग के अन्तर्गत आते है। ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा इस वेदांग के अन्तर्गत आती है। यह इसका प्राचीन शास्त्र भी कहा जाता है। वेदों का अध्ययन गुरुमुख से श्रवण किया जाता है। गुरु जिस प्रकार मंत्रों का उच्चारण करते है, शिष्य को उसी प्रकार से उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण अशुद्ध हो जाने से मंत्र का अर्थ अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि उच्चारण के भेद से अर्थ बदल जाता है, इसीलिए किस वर्ण और स्वर का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए। यह वेदों के अध्ययन का प्रमुख अंग है। इसके अन्तर्गत प्रातिशाख्य ग्रथ, शिक्षा ग्रंथ और शिक्षा सूत्र आते है।[५] इन ग्रंथों में शिक्षा वेदांग से सम्बन्धित विभिन्न अंगों उपांगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। शिक्षा वेदांग के सम्यक् अध्ययन से यह ज्ञात होता है,कि प्राचीन काल में भी भारत के प्राचीन ऋषियों ने भाषा का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया था। भारत में भाषा शास्त्र (आधुनिक भाषा विज्ञान) के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से शिक्षा वेदांग का महत्व बहुत अधिक है।[६]

२. कल्प–

वैदिक यज्ञों के विधि विधान हेतु कल्प का अध्ययन किया जाता है। वेदांग साहित्य में शिक्षा के बाद द्वितीय स्थान कल्प का है, इसे कल्पसूत्र भी कहा जाता है। कल्प शब्द का अर्थ विधि नियम, न्याय, कर्म और आदेश। सूत्र शब्द का अर्थ है, संक्षेप। जिन ग्रंथों में वैदिक विधि विधानों नियमों आदि का संक्षेप में वर्णन हो वे कल्पसूत्र कहलाते है। कल्पसूत्र में यज्ञों की विधियों नियमों आदि का कमबद्ध रूप से विवेचन मिलता है।

इसके साथ ही इसमें आर्यों के दैनन्दिन जीवन के विधि विधानों, कर्त्तव्यों अनुष्ठानों सामाजिक और राजनीतिक परम्पराओं रीति व्यवस्थाओं व्यक्तिगत कर्त्तव्यों का भी व्यापक रूप से वर्णन है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी अनुष्ठानो का इसमें वर्णन है। कल्प शब्द का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है–

कल्पो वेदविहितकर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।

अर्थात् वेद विहित कर्मों का व्यवस्थित क्रमपूर्वक कल्पना करने वाला शास्त्रकल्प है।

कल्प्यते समर्थ्यते यज्ञभागादि प्रयोगा यत्रेति तद्व्युत्पत्तेः। कर्मकाण्डादिप्रतिपादकाः ग्रन्थाः कल्पसूत्रेति पदेन व्यपदिश्यन्तेः॥[७]

अर्थात् यज्ञ–याग आदि प्रयोगों का इनके द्वारा समर्थन किया जाता है। इस प्रकार कर्मकाण्ड आदि के प्रतिपादक ग्रंथ कल्प सूत्र कहे जाते है। कल्प के चार भेद होते है,जो निम्न है।

१. श्रौत सूत्र-इसमें बडे–बडे यज्ञों की विधियाँ आती है।

२. गृह्य सूत्र-इसमें घरों में होनेवाली यज्ञों की विधियाँ आती है।

३. धर्म सूत्र-इसमें व्यक्ति और समाज के आचार–व्यवहार के नियम है।

१. सुल्ब सूत्र-यज्ञ वेदी के निर्माण की विधि व काम आती है।

३. व्याकरण-वेदों के अर्थों को समझने के लिये व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है, इसके बिना वेद मंत्रों के अर्थ समझ से परे है।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार व्याकरण वेदरूप पुरुष का मुख है – **मुखं व्याकरण स्मृतम्।**

षङ्वेदांगों में व्याकरण वेदांग का महत्व अधिक है। महाभाष्याकार पतंजलि के मतानुसार **प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम्।**[८]

व्याकरण से तात्पर्य है–जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति जनक व्याख्या की जाती है, वह व्याकरण है। व्याकरण का प्रमुख उद्देश्य शब्दों की व्युत्पत्ति करके, उसमें प्रकृति और प्रत्ययों को खोजकर उनके अर्थों का निर्धारण करना है– **व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्।**

व्याकरण शास्त्र की उत्पत्ति ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी। ऋग्वेद में व्याकरण की अनिवार्यता को इस प्रकार कहा गया है, कि जो व्याकरण नहीं जानता वह वाणी को देखता हुआ भी नही देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वैदिक संहिताओं में पदो की व्युत्पत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। गोपथ ब्राह्मण में और तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में व्याकरण से सम्बन्धित परिभाषित शब्दों कहा गया है।

व्याकरण शास्त्र के आविर्भाव के विषय में महार्षि शाकटायन ने ऋक्तन्त्र में लिखा है कि व्याकरण का कथन सबसे पहले ब्रह्मा ने किया था। ब्रह्मा से यह ज्ञान बृहस्पति, बृहस्पति से इन्द्र ने इन्द्र से भरद्वाज ने, भरद्वाज से ऋषियों ने और ऋषियों से ब्राह्मणों ने व्याकरण को प्राप्त किया। प्रातिशाख्य ग्रंथों में इसका विवेचन मिलता है। प्रातिशाख्य ग्रंथों में व्याकरण सम्बन्धी जिन विषयों का उल्लेख किया, वे है–

१.वर्ण समाम्नाय, पद–विभाग, सन्धि–विच्छेद, स्वर विचार,पाठ विचार आदि के साथ ही अन्य उच्चारण सम्बन्धी विचार।

वैदिक व्याकरण के पश्चात् लौकिक (संस्कृत) व्याकरण का आरम्भ हुआ। संस्कृत व्याकरण के सबसे प्रमुख व्याकरणाकार पणिनि है और इनके ग्रंथ का नाम अष्टाध्यायी है।

वेदों की रक्षा का प्रयोजन ही व्याकरण वेदांग का प्रमुख प्रयोजन है। महा भाष्यकार पतंजलि ने व्याकरण के पाँच प्रमुख प्रयोजन बताये है।

रक्षोहागमलध्वसंदेहाः

अर्थात् रक्षा, ऊह, आगम, लधु और असन्देह।

१. रक्षा-वेदों की रक्षा करने के लिये व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य है,क्योकि भाषाई ज्ञान वाला ही वेद मंत्रो की रक्षा कर सकता है।

२. ऊह-'ऊह' से तााात्पर्य है–नये पदों की कल्पना। वेदमंत्रों को न तो सभी लिंगों में कहा गया है और न सब विभक्तियों में। यज्ञों की आवश्यकतानुसार उनकी कल्पना व्याकरण के माध्यम से की जाती

है।

३. आगम–ब्राह्मण को निष्कारण ही छः अगों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए। छः अंगों में व्याकरण प्रधान है।

४. लघु–लघुता के लिये भी व्याकरण की ज्ञान अनिवार्य है। ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। व्याकरण ही वह लघु उपाय है, जिसके द्वारा शब्दों को जाना जाता है।

५. असन्देह –असन्देह के निवारण के लिये भी व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। इन पांच प्रयोजनों के अतिरिक्त भी महाभाष्याकार ने कुछ और प्रयोजनों को बताया है,जिने अपभाषण, दुष्टशब्द, अर्थज्ञान, धर्मलाभ, नामकरण आदि नाम से जाना जाता है।[९]

४. निरुक्त–

वेदांगों में निरुक्त का चतुर्थ स्थान है, निरुक्त किसी ग्रन्थ का नाम नहीं है, अपितु विषय का नाम है। जैसे–शिक्षा, कल्प आदि विषय है और उन पर ग्रन्थ रचित हुये हैं। वैसे ही निरूक्त भी एक विषय है, प्राचीन समय में निरुक्त पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये है। परन्तु वर्तमान समय में केवल यास्क का निरुक्त की उपलब्ध है।[१०]

निर्वचन व्युत्पत्ति शब्द का मूल रूप का ज्ञान कराना शब्द में प्रकृति प्रत्यय का स्पष्टीकरण करना धात्वर्थ औरर प्रत्ययार्थ का विशदीकरण समानार्थक और नानार्थक शब्दों का विवेचन आदि कार्य निरुक्त का है। इसके लिये इंग्लिश शब्द (Elymology) एटियालाजी है, जिसका अर्थ है, शब्द की उत्पत्ति और उसके विकास की प्रक्रिया का अध्ययन। इसे शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र भी कहा जाता है। प्राचीन काल में इस शास्त्र को निरूक्त कहते थे।[११]

वेदांगों में निरुक्त अपनी अलग विशेषता रखता है। इसमें मुख्य रूप से वैदिक शब्दों के अर्थो का परिज्ञान होता है। जिस प्रकार व्याकरण द्वारा शब्दों का ज्ञान और कल्प द्वारा मंत्रो का विनियोग होता है, उसी प्रकार अर्थों का समुचित ज्ञान निरुक्त द्वारा होता है। निरुक्त शब्द की व्याख्या करते हुये सायण ने कहा है–

अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तद्निरुक्तम्।[१२]

अर्थात् अर्थों को जानने के लिये स्वतन्त्र रुप से जहाँ पदों का संग्रह किया गया है। वह निरुक्त है। निरुक्त भाष्य गद्य में है, जबकि अन्य वेदांग सूत्र शैली में है, जिसे अर्थबोध में बड़ी सहायता मिलती है। यास्क विरचित निरुक्त स्वयं निघण्टु नामक वैदिक कोश का भाष्य है। यास्क ने निधण्टु के शब्दों के अर्थों तक पहुँचनें की चेष्टा की है। अर्थज्ञान के लिये वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते है। यही निरुक्त की आधार शिला है। निधण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने बारह अध्यायों में की है तथा दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोडे गये है।

वेदाध्ययन की दृष्टि से व्याकरण की ही तरह निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।

५. छन्द–

वेदांगों ने छन्द पांचवाँ वेदांग है। पणिनीय शिक्षा में छन्द नामक वेदांग को वेद पुरुष के दो पैर बताया गया है – **छन्दः पादौ तु वेदस्य।**

वेद मंत्रों के शुद्ध पाठ के लिये एवं अर्थो को जानने के लिये छन्दों को जानना अनिवार्य है। छन्दों के ज्ञान बिना वेदमंत्रों का शुद्ध उच्चारण नही किया जा सकता है। वेद का अधिकाशं भाग छन्दोबद्ध है।

छन्दों की रचना वर्णो और मात्राओं की संख्या के आधार पर की जाती है। कात्यायन ने छन्द का लक्षण इस प्रकार बताया है।

यदक्षरपरियाणं तच्छन्दः।

अर्थात् अक्षरों के परिमाण को छन्द कहा जाता है, इसमें यह स्पष्ट है,कि वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना होती हैं, मात्राओं की नहीं। वैदिक छन्दों की विशेषता है कि उसमें कम से कम एक तथा अधिकतम पाँच चरण होते है, जबकि लौकिक छन्दों में चार ही चरण होते है।

६. ज्योतिष –

वेदांगों में ज्योतिष् छठा वेदांग है। पणिनीय शिक्षा में इसको वेदपुरुष का चक्षु कहा गया है – **ज्योतिषामयनं चक्षुः।**

वेद की उपयोगिता यज्ञ सम्पादन में है, यज्ञ करने के लिये उपयुक्त समय का ज्ञान होना आवश्यक है, विशिष्ट यज्ञ, विशिष्ट काल की अपेक्षा रखता है। कुछ यज्ञों का विधान संवत्सर की दृष्टि से होता था और कुछ यज्ञ ऋतु की दृष्टि से किये जाते थे। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है।

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत ग्रीष्मे राजन्य आदधीत शरदि वैश्य आदधीत।[१३]

अर्थात् ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्नि का आधान (यज्ञ के लिये अग्नि की स्थापना) करे। क्षत्रिय ग्रीष्म में अग्नि का आधान करे और वैश्य शरद ऋतु में अग्नि का आधान करे।

ज्योतिष वेदांग गणना पर आधारित है, उचित काल ज्ञान के लिये ग्रह–नक्षत्र आदि को भौतिक दशा को ध्यान में रखा जाता है। यह सब गणित पर ही निर्भर करता है, इसीलिये गणित और ज्योतिष दोनों पर्यायवाची शब्द है। वेदांग ज्योतिष में गणित को इसीलिये मूर्धन्य स्थान दिया गया है।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तदवत् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥[१४]

जैसे मयूरों की शिखा उनके शिखर पर होती है। जैसे सर्पों की मणियाँ उनके सिर पर होती है, उसी प्रकार सब वेदांगों के ऊपर गणित (ज्योतिष) वेदांग रहता है। आजकल ज्योतिष वेदांग का उपलब्ध और प्रतिनिधि ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष है। यह दो भागों में है। १. ऋग्वेदीय या आर्य ज्योतिष २. यजुर्वेदीय या याजुष ज्योतिष।

आर्य ज्योतिष में ३६ और याजुष ज्योतिष में ४३ श्लोक है। इसके रचयिता लगध है।

वेदांग ज्योतिष में समय की गणना युग के अनुसार की गयी है। एक युग पांच वर्ष का होता है, इन वर्षों के नाम संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इदवत्सर है। प्रतीत होता है,कि उस युग में वर्ष का आरम्भ माघ मास से होता था तथा समय की गणना नक्षत्रों के आधार पर की जाती थी। वेदांग ज्योतिष में समय की गणना २७ नक्षत्रों के आधार पर की गयी है,इनमें राशियों का उल्लेख नहीं है। इन राशियों के अनुसार गणना का प्रचलन बहुत बाद में हुआ। वेदांग ज्योतिष उत्तरायण और दक्षिणायन के समय सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति का वर्ण भी मिलता है।

प्रासांगिकता–

भारत देश की अखण्ड साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा वेदों के रूप में लगभग चार हजार वर्षों से प्रवहमान है। वैदिक साहित्य में तत्कालीन ऋषियों मुनियों ने प्रकृति के काव्य सौन्दर्य के साथ मिलकर जो भावाभिव्यक्ति की है,वह भावाभिव्यक्ति वैदिक साहित्य में नहीं, बल्कि विश्व वाङ्मय के लिये अमूल्य निधि के रूप में मानी जाती है। तत्कालीन मानव प्रकृति के अतिनिकट था, उसके सारे क्रियाकलाप प्रकृति दिव्यत्व के रूप में मानकर संचालित होते थे। तदयुगीन आर्यों के द्वारा वरूण सविता, ऊषा, अग्नि, इन्द्र आदि की स्तुतियाँ काव्य रूप में की जाती थी। इनमें छन्द विधान अलंकार एंव संगीत के तत्वों का पूर्ण समावेश दृष्टिगोचर होता हैं। भावना तथा कल्पना की परिपूर्णता के दर्शन चिरकुमारी ऊषा के लावण्य के भावों में

किये जा सकते है, वैदिक काव्य चिंतन प्रधानता की ओर बढ़ता गया। वैदिक सूक्तों में नाना प्रकार के देवताओं का आवाह्न करने के लिये अनेक मन्त्रों का विधान किया गया है। इन सूक्तों में काव्य कला अपने अप्रतिम रूप एंव भावों के वैविध्य के साथ प्रस्तुत हुई है। ऋग्वेद में ऊषा सम्बन्धी मन्त्रों में जहाँ सौन्दर्य भावना की अधिकता प्रतीत होती है, वही इन्द्र विषयक मत्रों में तेजस्विता। अग्नि के विषय में वर्णित चेतना का स्वाभाविक द्रष्टव्य हो जाना तथा वरुण के चित्रण में कोमल एवं मनोहारी भावों का प्रस्फुटन काव्य की व्यजना को संशक्तता प्रदान करता है।

भारतीय धर्म भाषा साहित्य सभ्यता संस्कृति और कला इन सभी के विकास और उन्नति में वेदों का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है, इन सबका मुख्य आधार वेदों को ही स्वीकार किया जाता है। भारत वर्ष के धर्म संस्कृति और सभ्यता का भव्य प्रसाद वेदों की सुदृढ़ आधार शिला पर ही निर्मित किया गया है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी कहते है, कि वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, भारतीयों की संस्कृति तथा भारतीयों के आधार विचार सब वेद मूलक है।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक संस्कृति होती है, जिसके द्वारा विश्व में अपनी पहचान होती हैं और वहाँ के निवासी उसी संस्कृति में रचे बसे रहते है। इस विषय में प्रकाश डालते हुये रामनाथ सुमन कहते है, कि – संस्कृति किसी जाति या देश की आत्मा है, इससे उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है। जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता हैं वह विशिष्ट मानव समूह के उन उदात्तगुणों को सूचित करती है, जो मानव जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी उसे समूह की विशिष्टता प्रकट करते है और जिन पर जीवन में अधिक जोर दिया जाता है।

मानव जीवन के विकास संर्वधन, राष्ट्र संवर्धन एंव मानवता के कल्याण एवं उद्धार हेतु वेद व वेदांगों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान में समाज में अनेक विसंगतियाँ परिलक्षित है। उन सभी विसंगतियों का समाधान वेदांगों में निहित है। प्राचीन समय में भारतीय समाज उत्कृष्ट जीवन शैली में जीवन जीता था, लेकिन सामाजिक जीवन वेदों से दूर होता जा रहा है, इसी कारण समाज में अमंगल दृष्टिगोचर होता है। आदर्श भारतीय समाज व्यवस्था के संचालन में वेदांगों की प्रासंगिकता है। इस प्रकार देखा जाये तों मानवीय जीवन के विकास के लिये वेदांगों के अध्ययन, प्रचार–प्रसार की महती आवश्यकता है। वेदांगों के अध्ययन पठन–पाठन पर अनिवार्य रूप से ध्यान देना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची :-

१–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार
२–मनुस्मृति
३–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार २२६
४–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कर्ण सिहं १२२
५–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार
६–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कर्ण सिहं १४
७–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार २३२
८–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार २४६
६–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार
१०–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कृष्ण कुमार २५१
११–संस्कृत रत्नाकर पत्रिका फरवरी २०१८
१२–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कर्ण सिहं १२६
१३–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कर्ण सिह १३२
१४–वैदिक साहित्य का इतिहास–डॉ कर्ण सिह १३३

– १४७ सुशील नगर उरई

www.pranwanand.org

छन्द:शास्त्राचार्य-परम्परा

❑ डॉ. प्रकाशचन्द्रपन्तः...✍

'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति' इति भरतमुने: कथनेन लोके शब्दज्ञानार्थं छन्दसां ज्ञानमत्यावश्यकं भवति। वेदानां कृते भगवता मनुना प्रोक्तं यत् 'सर्वज्ञानमयो हि स:' अर्थात् वेदेष्वेव निखिलमपि ज्ञानं विज्ञानं विद्यत इति। न केवलं वेदानामपितु तदुत्तरवर्तिलौकिकसंस्कृतसाहित्यापि विज्ञानाय छन्दसां ज्ञानमावश्यकं भवतीति। छन्द: षड्वेदाङ्गेषु प्रमुखं वर्त्तते। सायणाचार्येणापि निगदितमस्ति यत् 'अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षड् वेदाङ्गानि प्रवृत्तानीति'। भारतीयज्ञानविकासस्येतिहासिक: क्रमो वेदेभ्य: समारभ्यते, वेदानामनन्तरं वैदिकं साहित्यं तदनन्तरं षड्वेदाङ्गानां काल आयाति। महाज्ञानिनो वेदव्यासस्य कालादथवा ततोऽपि पूर्ववर्ति-गुरुशिष्य-परम्परा ज्ञाननिर्माणस्य, आत्मचिन्तनस्य च ये सम्प्रदाया आसन्, तैरेव विविधेषु आश्रमेषु वेदानामध्ययनाध्यापनं भवति स्म। अनयैव गुरुशिष्यपरम्परया वेदाध्ययनस्य कृते षड्वेदाङ्गानां निर्माणं कृतमिति। षड्वेदाङ्गानां निर्माणेन भारतीयसाहित्यस्य विकासे नवयुगस्यारम्भो भवति। युगेऽस्मिन्नेव वेदाङ्गानां प्रणयनं जातम्। यानि च शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त- छन्दो-ज्योतिषमिति। पाणिनीयशिक्षायां वेदभगवत: षडङ्गरूपेणैतेषां स्थानानि निर्धारितानि सन्ति यथा -

छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्ममलोके महीयते॥

एवं स्पष्टं भवति वेदस्यार्थज्ञानाय लौकिकसाहित्यस्य च सम्यग्ज्ञानाय छन्दसां ज्ञानमावश्यकमिति। छन्दो वेदभगवत: पादौ स्त:। अत: छन्दसां ज्ञानं विना वेदपुरुषस्य गति: न सम्भवति। यथा स्थातुं पादयो: आवश्यकता भवति तथैव वेदलोकयोर्ज्ञानाय छन्दसामिति। यतोहि निखिलोऽपि वेद: छन्दोमयो विग्रहो वर्तते। वैदिकमन्त्रै: साकं छन्दसां घनिष्ठ: सम्बन्ध: अस्ति। रुचिरा लययुक्ता श्रुतिप्रिया मधुरा च वाक् छन्दोनाम्नाभिधीयते। तत्र भगवता यास्काचार्येण 'छन्द' शब्दस्य व्युत्पत्ति: 'छन्द' आच्छादने, आवरणे इति कृता वर्तते। एवं प्रकारेण स्पष्टं भवति यद् छन्द: शास्त्रं कियत् महत्वपूर्णं वर्तते। अत एव छन्द: शास्त्राचार्यपरम्परेति विषयमवलम्ब्य किञ्चिद् लेखितुमहं प्रवृत्त:। विभिन्नच्छन्दसां वृतानाञ्च यस्मिन् ग्रन्थे सोदाहरणं वर्णनं प्रकारश्च वर्णितो भवति तदेव शास्त्रं छन्द:शास्त्रं नाम।

तच्छास्त्रकर्तार: छन्द: शास्त्राचार्या: तेषामेव परम्पराया: वर्णनमस्मिन् शोधपत्रे क्रियते। छन्द:शास्त्राचार्याणां परम्परायां पिङ्गलमुनिं सर्वप्राचीनं मन्यन्ते मनीषिण:। परं पिङ्गलाचार्यस्य पूर्वं शङ्कर: सर्वप्राचीनत्वेन परिगण्यते। तत्र वैदिक-छन्दोमीमांसायां पद्यमेकं लिखितमस्ति यथा -

छन्दोज्ञानमिदं भवाद् भगवतो लेभे गुरूणां गुरुः।
तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुर्माण्डव्यनामा ततः॥
माण्डव्यादपि सैतवः तत ऋषिर्यास्कस्ततः पिङ्गलः।
तस्येदं यशसा गुरोसुषितं प्राप्यास्मदाद्यैः क्रमात्॥

- वै. छन्दोमीमांसा, पृ.-५६

श्लोकेनानेनायं क्रमो निर्धारितो भवति आद्य: प्रवर्तक: शिव: तत: बृहस्पति: दुश्च्यवन: (इन्द्र:) शुक्राचार्य:, माण्डव्य:, सैतव:, यास्काचार्य: प्रमुखा आचार्या: सन्ति छन्द:शास्त्रस्य इत्थं सिद्धं भवति यद् छन्द: शास्त्राचार्याणां परम्परा पिङ्गलादपि पूर्वतो वर्तते। पिङ्गलकाले छन्द: शास्त्राचार्याणां परम्परा पिङ्गलादपि पूर्वतो वर्तते। पिङ्गलकाले छन्द: शास्त्रस्य नैके ग्रन्था आसन्। येषां रचनाकाराणामुल्लेख: पिङ्गलमहोदयेन स्वयं नैजे छन्द:शास्त्रे कृतो दृश्यते। अनेन स्पष्टं भवति यद् पिङ्गलाचार्यात् पूर्वमेव सप्त अथवा ततोऽधिका: आचार्या: बभूवु:।

एका द्वितीयाऽपि परम्परा 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' इति पुस्तके वर्णिता अस्ति। अत्र गुह: (कार्तिकेय:) सनत्कुमार:, शेषनाग:, पतंजलि: छन्दशास्त्रस्य कर्तृत्वेन क्रमशो वर्णिता: सन्ति।

छन्द:शास्त्रमिदं पुरा त्रिनयनाल् लेभे गुहोऽनादित:।
तस्माद् प्राप्य सनत्कुमारमुनिस्तस्मात् सुराणां गुरु:॥
तस्मात्देवपतिस्तत: फणिपतिस्तस्माच्च सत्पिङ्गल:।
तच्छिश्यैर्बहुभिर्महात्माभिरथो मह्यां प्रतिष्ठापित:॥

-सं. शास्त्रों का इतिहास, पृ.-२८४

उभयो: परम्परयो: प्रथमा परम्परा यादवप्रकाशद्वारा निर्दिष्टा। अत: सैवाधिका प्रामाणिका माननीया वर्तते। द्वितीयायामपि केषाञ्चिदुपरिनिर्दिष्टा-नामाचार्याणामुल्लेखो वर्तते। येषां परिचय: अन्यपुस्तकेषु प्राप्यते। प्रथमपरम्पराया: ऐतिहासिकं महत्त्वमधिकं मन्यन्ते मनीषिण: अनयैव परम्परया पिङ्गलसूत्रे निर्दिष्टानामाचार्याणां पौर्वापर्यस्य क्रम: समीचीनतया निधारियितुं शक्यते। एवं स्पष्टीभवति यद् छन्द:शास्त्रय शिवादीनामनन्तरं पिङ्गलाचार्य: एव सर्वप्राचीनत्वेन छन्द:शास्त्राचार्यो वर्तते इति। पिङ्गलाचार्यस्यानन्तरमपि बहव: आचार्या: बभूवु:।

पिङ्गलाचार्य: - (ई. पूर्वम् २००) साम्प्रतं सम्प्राप्तेषु छन्द:सूत्रग्रन्थेषु पिङ्गलच्छन्द:सूत्रं प्राचीनतमम्। पैङ्गर्षे: कुलेऽस्य जन्मेति पाश्चात्यानां मतम्। वेदाङ्गभूतस्य छन्द:शास्त्रस्याऽयमेव रचयितेति कथ्यते अतोऽस्य प्राचीनत्वं सिद्धम्। ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादिक-लौकिकच्छन्दसां विषयेऽपि ई. पूर्वं प्रथमशतकात् प्राचीन एव पतञ्जलिरित्यैतिहासिकानां षड्गुरुशिष्येण स्वानुक्रमणीभाष्ये पिङ्गलाचार्य: पाणिनेरनु इति वर्णित:। अस्य ग्रन्थस्य सूत्ररूपत्वादयं ग्रन्थोऽपि श्रौतगृह्यसूत्रकाडिति सम्भवति। इदं सूत्रमष्टाध्यायेषु विभक्तं वर्तते। अस्य प्रथमामध्ये मात्रागणपरिचय:, द्वितीयाध्याये तृतीयाध्याये च वैदिकच्छन्दसां वर्णनं, चतुर्थे आर्यावैतालीयादिच्छन्दसां वर्णनं, पञ्चमे षष्ठे चाध्याये विषमार्धसमवृत्तादिकथनम्, सप्तमे त्रयोदशाक्षरपादादारभ्य षड्विंशतिं यावत् वर्णनं विद्यते, अस्य पिङ्गलकृतच्छन्द: सूत्रस्य चतुर्दशटीका: सन्ति, यासु हलायुधरकृता 'मृतसञ्जीवनी' टीका प्रशस्ता प्रसिद्धा च। तयोरुल्लेख: हलायुधेन कृतो वर्तते। यादवप्रकाशेनापि पिङ्गलच्छन्दसूत्रस्य टीका कृता वर्तते।

पिंगलाचार्यरचिते छन्द:शास्त्रे हलायुध:।
मृतसञ्जीवनीं नाम वृत्तिं निर्मितवानिमाम्॥

पिंगलाचार्यस्य देशकालनिर्णय: प्रमाणाभावेन यथार्थत: कर्तुं नैव शक्यते केचित् पाणिनेरनुज इति कथयन्ति, तदाधारेणायं शालातुरनिवासी विक्रमपूर्वा् अष्टमशताब्दस्य ग्रन्थकारो मन्तुं शक्यते। यूरोपीया: विद्वास: पिंगलं द्वितीयशताब्द्या: मन्यन्ते। पतञ्जलि: महाभाष्यस्य नवाह्निके पैङ्गलकाण्शब्दस्योल्लेख: कृतो वर्तते। तेनायं तस्य पूर्ववर्ती भवति। पञ्चतन्त्रे वर्तते यद् समुद्रतटे छन्दोज्ञाननिधिं पिङ्गलं मकरो जघान। किं तेन वक्तुं शक्यते यदस्य स्थानं पश्चिमसमुद्रप्रदेशस्य तटे एव सर्वप्राचीनत्वेन छन्द:शास्त्रपरम्परायां पिङ्गलस्य नाम प्रसिद्धं वर्तते।

जनाश्रय: - आचार्यपिङ्गलस्यैव परम्परायां 'जनाश्रयी छन्दोविचित' नामधेयस्य छन्दोग्रन्थस्य प्रणयनं जनाश्रयकविना कृतम्। अस्य समय: ६०० ईश्वीय वर्षं वर्तते। अत: पिङ्गलाचार्यस्यानन्तरजनाश्रयस्यैव नाम इतिहासग्रन्थेषु लिखितं वर्तते। ग्रन्थेस्मिन् षडध्याया: सन्ति।

महाकविस्वयम्भू: - अयं हि महाकवि: अपभ्रंशभाषाया: विद्वान् आसीत् अस्य 'स्वयंभूछन्द:' नाम्ना ग्रन्थो वर्तते। अस्य काल: सप्तमशताब्दी वर्तते।

जयदेव: - जनाश्रयस्यैव समकालीन: किन्तु पश्चाद्वर्ती जयदेव: महान् छन्द:शास्त्री वर्तते। तस्यैव नाम्ना तस्य जयदेवच्छन्द: नाम्ना प्रसिद्धो ग्रन्थो वर्तते। अयं प्राचीनो ग्रन्थकारो वर्तते। यत: एक सहस्त्रशताब्द्यनन्तरं जातै: ग्रन्थकारै: अस्योल्लेख: कृतो वर्तते अस्य ग्रन्थोऽपि अष्ट-अध्यायेषु वर्तते प्रथमेषु त्रिषु अध्यायेषु वैदिकच्छन्दसां, तथा चान्तिमपञ्चमाध्यायेषु लौकिकानां छन्दसां वर्णनं कृतमस्ति कविनानेन। अयमपि ग्रन्थो वृत्तरत्नाकरमिव लक्षणोदाहरणानि सममेव प्रस्तौति। इदं कवे: प्रतिभाया: वैलक्षण्यम्।

जयकीर्ति: - जयकीर्ति: कन्नड़देशीय: जैन: आसीत्। अष्टाधिकारे विभक्तमिदं 'छन्दोऽनुशासनम्' नाम ग्रन्थ: छन्द:शास्त्रीयग्रन्थेषु किमपि विशिष्टं स्थानं रक्षति। ग्रन्थेऽस्मिन् लेखकेन सप्तमाधिकारे कन्नड़भाषाया: छन्दसामपि परिचय प्रदत्त:। येन तस्य कन्नड़देशीयत्वं सिद्धं भवति। ग्रन्थारम्भे जैनतीर्थङ्करस्य वर्धमानमहावीरस्य

वन्दना कृता वर्तते। तेनापि तस्य जैनत्वं प्रकटीभवति। ग्रन्थे केवलं लौकिकानि छन्दांसि सन्ति। अस्य समय एकसहस्रईस्वीयं वर्षं वर्तते। अनेन यति स्वीकृतवतामस्वीकृतवताञ्चार्याणां परम्परे वर्णिते स्तः – पिङ्गल–वशिष्ठ–कौण्डिन्य–कपिल–कम्बलमुनय यतिं वाञ्छन्ति तथा च अश्वतरसैतव भरत–कोहल–माण्डव्याः यतिं नेच्छन्ति तद्यथा– **वाञ्छन्ति यतिं पिङ्गलवशिष्ठकौण्डिन्यकपिलकम्बलमुनय नेच्छन्ति भरत–कोहल–माण्डव्याश्वतरसैतवाद्याः केचित्॥**

केदारभट्टः – अयं हि कविः छन्दःशास्त्राचार्यापरम्परायां सुप्रथितः लोकप्रियो वर्तते कश्यप–गोत्रोत्पन्नोऽयं कविः उत्तरदेशीयः वर्तते। केचित् कविमेनं दक्षिणभारस्येति कथयन्ति। अस्य समयः सहस्रईस्वीयवर्षात् पूर्वं मन्यते। वृत्तरत्नाकराख्यो ग्रन्थो भट्टकेदारकवेः प्रसिद्धो वर्तते। अत्र नातिविस्तरेण छन्दसां लक्षणोदाहरणानि प्रदत्तानि। अस्य ग्रन्थस्य त्रिविक्रम–सुल्हण–सोमचन्द्रगणि–रामचन्द्र–समय सुन्दरगणि–नारायणभट्ट–भास्कर–जनार्दन–सदाशिव–श्रीकण्ठ–विश्वनाथ–कृष्णसार–करुणाकरदास–दिवाकर–प्रभृति–चतुर्दशविद्वाद्भिः टीकाः कृताः सन्ति। अनेन केदारभट्टस्य ग्रन्थस्य छन्दशास्त्रस्याचार्याणाञ्च ज्ञानं स्वयमेव भवति। अधुनाऽपि ग्रन्थोऽयमध्यमाकक्षासु पाठ्यते।

क्षेमेन्द्रः – अयं कविः कश्मीरदेशवास्तव्यो वर्तते। अस्य कालः एकादशशताब्दीतिहासग्रन्थेषु वर्णितो वर्तते। अयं महाकविः महान् छन्दःशास्त्री वर्तते। अस्य सुवृत्ततिलकमिति प्रसिद्धो ग्रन्थो वर्तते। ग्रन्थोऽयं नातिविस्तृतः परं महत्त्वपूर्णो वर्तते। त्रयो विन्यासाः ग्रन्थे सन्ति। प्रथमे तत्र लक्षणानि पद्ययुक्तानि स्वरचितान्युदाहरणानि च सन्ति। द्वितीये विन्यासे अन्यकवीनां श्लोकानामुदाहरणानि सन्ति। तृतीये विन्यासे रस–वर्ण्यविषयैः सह सवर्था छन्दसां सम्बन्धः स्थापितः अस्ति।

कालिदासस्य श्रुतबोधः – कालिदासनाम्ना प्रख्यातः श्रुतबोधः लौकिकच्छन्दसां ज्ञानार्थं महत्त्वपूर्णो ग्रन्थो वर्तते। संस्कृतकाव्येषु प्रयुक्तानां प्रचलितच्छन्दसामेव वर्णनमस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यमस्ति। चतुश्चत्वारिंशत् पद्यानि सम्पूर्णे ग्रन्थे सन्ति। अयं महाकवेः कालिदासाद् भिन्नः कश्चित् कालिदासो वर्तते। अस्य समयः सम्भवतः अष्टमी शताब्दी मन्यते।

हेमचन्द्रः – अयं मैथिलो ब्राह्मणो वर्तते। मैथिलाधिपतेः कीर्तिः सिंहस्य राज्यसभायाः सम्बद्धश्च। अस्य समयः पञ्चदशशताब्दी वर्तते। अस्य छन्दोऽनुशासननाम्ना प्रसिद्धः सूत्रग्रन्थो वर्तते। अत्र प्राकृतापभ्रंशच्छन्दसामपि विवरणं प्रदत्तमस्ति। अष्टाध्यायेषु ग्रन्थोऽयं विभाजितो विद्यते।

गङ्गादासः – उत्कालप्रदेशीयोऽयं वैष्णवः कविरासीत्। अस्य पितुः नाम वैद्यः गोपालदासः मातुश्च सन्तोषी देव्यासीत्। अयं कोमलकविरासीत्। उत्कलभाषायामपि कविनानेन रचनाः कृताः। अस्य छन्दोमञ्जरीति नामको ग्रन्थोऽति प्रसिद्धो वर्तते। कवेरस्यान्येऽपि ग्रन्थाः सन्ति। छन्दोमञ्जर्यां सरल–भाषया छन्दसां लक्षणोदाहरणानि वर्णितानि सन्ति। छन्दोज्ञानपिपासूनां कृते ग्रन्थोऽयं नूनमेवोपकारी वर्तते। कवेरस्य समयः षोडशताब्दीति कथ्यते। ग्रन्थेऽस्मिन् जयदेवस्यापि वर्णनं वर्तते।

एतदतिरिच्य छन्दः शास्त्र–परम्परायां सन्ति अन्येऽपि बहवः आचार्याः तत्र पिङ्गलपूर्ववर्तिषु पं. डॉ. हरिकृष्णशास्त्रिकृतसंस्कृतवाङ्मये रत्नकुमार–काश्यप–कौष्टुकि–ताण्डी–सैतव–यास्क–शौनक–कात्यानादयो वर्णिताः सन्ति। तथा च पिङ्गलाचार्यपरिवर्तिषु शोधपत्रे पूर्वं वर्णनमिति–भरत–श्रीहर्ष–वाग्भट्ट–दुर्गादास–दामोदरमिर–दुःखभञ्जन कवि–अप्यदीक्षित–वैंकटेश –कृष्णकविरामपाणिवाद–चन्द्रशेखर–खिस्तेनारायण शास्त्रिप्रभृतयो विद्वासो वर्णिताः विद्यन्ते। अनेन ज्ञायते यद् छन्दः शास्त्रस्य काचिद् सुदीर्घा परम्परा वर्तते। अत्र नैकाः विद्वासः कवयः ग्रन्थकारा स्वयोगदानेन छन्दःशास्त्राचार्यपरम्परां पोषितवन्तः।

इत्थं खलु नादसौन्दर्यमाधुर्यानुबन्धिमात्राऽक्षरनियामाकानां छन्दसां विवरणप्रवणं छन्दःशास्त्रं तत्कर्तारः आचार्यश्च वेदाङ्गसाहित्ये संस्कृतवाङ्मये च नूनमुच्चैः स्थानम् अलंकुर्वन्तीति।

–असि. प्रोफेसर,
शिक्षाशास्त्रविभागः,
उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम्

त्रिमुनिव्याकरणस्य वेदाङ्गत्वम्, वैशिष्ट्यम्, लोकोपकारकत्वञ्च

❑ डॉ. दीपककुमारकोठारीः...✍

तत्रेश्वरेण मानवमात्राय प्रदत्तः कश्चिद् विशिष्टोपहारो वर्तते '**वाक्**'। ययैव वाचा मानवानां सर्वोऽपि व्यवहारश्चलति। यदीश्वरस्य मानवायायं वाग्रूपोपहारो न स्यात्तदा मानवजीवनं कीदृशं कष्टयुतं स्यादित्यस्य कल्पनापि शक्यते कर्तुम्? अतः सम्यगेवोक्तं महाकविना दण्डिना–

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ इति[१]

मानवेन च परस्परं व्यवहाराय नूनमेव संस्कृता वाक् प्रयोक्तव्या। यतोहि संस्कृता वागेवाभीष्टार्थप्रतिपादने समर्था, नासंस्कृतेति। एतस्याश्च ज्ञानं न व्याकरणमन्तरा भवितुं शक्यम्। अत एव –

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।[२]

इत्युक्तमाचार्येण भर्तृहरिणा। अनेन त्विदं व्याकरणशास्त्रं मोक्षमाणानां कृतेऽजिह्मा (सरला) राजपद्धतिः (राजमार्गः) वर्तत इत्यपि प्रतिपादितम्–

इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिरिति॥[३]

इदञ्च व्याकरणमनेकविधम्–**ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्। सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकमितिभेदात्॥**

श्लोकेऽस्मिन् यत् पाणिनीयं व्याकरणं वर्तते, तदेव '**त्रिमुनिव्याकरणमि**'ति नाम्नापि ज्ञायते।

तत्र व्याकरणसम्प्रदाये '**त्रिमुनिरि**'ति पदेन त्रयाणां मुनीनां ग्रहणं क्रियते। ते च त्रयो मुनयः '**पाणिनिकात्यायनपतञ्जलयो**' वर्तन्ते। एभिर्मुनिभिर्विरचितं व्याकरणं त्रिमुनिव्याकरणमिति कथ्यते। तत्र **विद्याविद्यावतामभेदविवक्षायां त्रिमुनिव्याकरणमिति**[४] प्रयोगः साधुरेव। त्रिमुनिष्वपि सर्वप्रथमं महर्षेः पाणिनेः स्थानमायाति। एतेन चाचार्येण '**अष्टाध्यायीति**'[५] नामक एतादृशः कश्चिद् ग्रन्थविशेषो विरचितो योऽद्यापि मानवीयमेधाया निकषायमानो वर्तते। न केवलं भारतीया एव विद्वांसोऽपितु पाश्चात्यदेशीया अपि विद्वांसो ग्रन्थमिमं दर्शं–दर्शमाश्चर्यचकिता भवन्ति। अपूर्वः कश्चिदयं ग्रन्थस्तत्राचार्यस्य 'पाणिनेः'। कथमनेनैतादृशस्य विलक्षणस्य ग्रन्थस्य रचना कृतेत्यस्मिन् विषये ब्रूते महाभाष्यकारोऽपि –

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः, शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य, महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्मे'ति।[६]

महाभाष्यकारस्यैतद्वचनबलादेतत्तु ज्ञातुमेव शक्यं यदाचार्यस्य तपःस्वाध्यायनिरतस्य तपोमयस्य जीवनस्यापूर्वायाः कस्याश्चित् साधनायाः परिपाकभूतोऽयं ग्रन्थो नाम। अयमेवाष्टाध्यायीति नामको ग्रन्थरत्नो वर्त्ततेऽस्य निखिलस्यापि त्रिमुनिव्याकरणस्य '**बीजभूत**' इति। ग्रन्थेऽस्मिन् व्याकरणसूत्राणि[७] वर्त्तन्ते। सूत्रे च यदुक्तं, यन्नोक्तं, यच्च दुरुक्तं वर्तते तदधिकृत्याचार्येण कात्यायने वार्तिकानां रचना कृता। त्रिषु मुनिष्वयमेव द्वितीयो मुनिः। सूत्रेषु वार्तिकरचनयेदं व्याकरणशास्त्रमितोऽपि परिष्कृतं, व्यापकञ्च सञ्जातम्। एतयोः–सूत्रवार्तिकयोरुपरि महाभाष्यस्य रचना कृता महर्षिणा पतञ्जलिना। अनेन चाचार्येण पूर्वोक्तस्य व्याकरणस्य यद्रहस्यं वर्त्तते, तदतीव सरलता भाषया सर्वजनग्राह्यं कर्तुमस्य भाष्यस्य रचना कृता। तदेव हि महाभाष्यं[८] यत् सूत्रार्थवर्णनपुरस्सरं, स्वशैल्या तद्रहस्योद्घाटनमपि करोति। कार्येऽस्मिँचेदं भाष्यमन्यतमं वर्तेतेऽत एवान्यानि भाष्याण्येतत्तु महाभाष्यमैवेति। अयमेव च तृतीयो मुनिरिति। अनेन च त्रिमुनिव्याकरणस्य सामान्यः परिचयः समुपस्थापितः। सम्प्रति च शास्त्रस्यास्य

'वेदाङ्गत्वे' विचारः क्रियते-कस्याचिदपि व्याकरणस्य भवति सर्वप्रमुखं प्रयोजनं शब्दानुशासनमिति। अत्र च यादृशं वैशिष्ट्यमिदं त्रिमुनिव्याकरणं बिभर्ति, न तादृशं कस्यचिदन्यस्य व्याकरणशास्त्रस्य। इदं व्याकरणं न केवलं लौकिकानामेव शब्दानामनुशासनं करोत्यपितु वैदिकानामपि शब्दानामनुशासनं करोति।[9] एषा च विशेषतास्यैव त्रिमुनिव्याकरणस्य। अत एवेदं व्याकरणं 'वेदाङ्गत्वेन' सर्वैरादिृयतेऽपि। अस्य च व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वं श्रुतिमूलकत्वादेव वर्तते। एतद्विषये च विचारः कृतस्तत्र श्रीमता नागेशभट्टनोक्तञ्च-**आनुपूर्वीका श्रुतिरेवैषेति।**[10] अर्थादस्य व्याकरणस्य मूलभूतानि 'चतुर्दशसूत्राणि'[11] आनुपूर्वीका श्रुतिरेवेति। एतेषां च माहेश्वरसूत्राणां प्रयोजनमणादिप्रत्याहारसिद्धिरेव वर्तते।[12] अणादिप्रत्याहारसिद्ध्यनन्तरमेव व्याकरणसूत्राणामर्थबोधो जायते। तदन्तरमेव च भाषागतसमस्यानां समाधानाय कश्चिद् विचारः प्रारभतेऽत एतेन सर्वस्याप्यस्य व्याकरणशास्त्रस्य श्रुतिमूलकत्वं सिध्यत्येव। अत एवैतेषां कृतेऽ**क्षरसमाम्नायै**ऽति शब्दप्रयोगोऽपि कृतो वर्तते पाणिनिशिक्षायाम्।[13] एष चाक्षरसमाम्नाय इति शब्दो वेदस्यैवापरपर्यायः। ऋक्तन्त्रव्याकरणेऽपि विषयेऽस्मिन् विचारः कृत वर्तते। तत्र प्रथमं व्याकरणपरम्पराया उल्लेखो वर्तते तत्रैव च वेदाङ्गविषयकमपि मतं दृश्यते। तस्य चोल्लेख आचार्येण नागेशेन स्वकीये ग्रन्थे लघुशब्देन्दुशेखरे[14] कृतः। स च - **ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊर्चुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विदमक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते, न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिरिति। ब्रह्मराशिरित्यस्य ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिरित्यर्थः।** तत्त्वं च नन्दिकेश्वरकाशिकायां स्पष्टमिति। नन्दिकेश्वरकाशिकायाञ्च 'अइउण्' इति प्रथमस्य सूत्रस्य अः-परमेश्वरो निर्गुणः, इम्-मायाम् आश्रित्य, उः-व्यापकः सगुणः, ण् - आसीदित्येवं रूपेण वर्णनं[१५] प्राप्यतेऽत्रापि स्पष्टरूपेणैवेमानि चतुर्दशसूत्राणि ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिर्वर्तत इति प्रतिपादितं वर्तते। एतेनाप्येतस्य शास्त्रस्य वेदाङ्गत्वं सुस्थिरीभवति। अत्रेदमवधेयम्-वेदाङ्गमिति शब्दे अङ्गशब्दः उपकारकपरो न तु शरीराङ्गमिव शरीरावयवपरः। एतेनेदं शास्त्रं वेदोपकारकमिति फलति। अत एवास्य विषये '**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रमि**त्युच्यते'। अत्र प्रयुक्तः परिषच्छब्दः सामान्यवाच्यपि गृह्यते। एतेन चास्य व्याकरणस्य सर्ववेदसाधारणत्वं संसूच्यते। अत्रेदं तत्वं-चतुर्णामपि वेदानां पृथक्-पृथक् प्रातिशाख्यं वर्तते। तच्च प्रातिशाख्यं तत्रच्छाप्रयुक्तशब्दानामेवाख्यानं करोति। न तु तद्भिन्नशाखाप्रयुक्तशब्दानाम्। तद्भिन्नशाखाप्रयुक्त-शब्दानामन्वाख्याने तदसमर्थं भवति। किन्त्विदं व्याकरणं सर्ववेदसाधारणं वर्तते। एतस्य ज्ञानेन चतुर्ष्वपि वेदेषु प्रयुक्तशब्दानामन्वाख्याने प्रवीण्यं लब्धुं शक्यम्। इदमेवास्य सर्ववेदपारिषदत्वं नाम। अस्य च व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनमपि वेदरक्षणमेव। अत एवोक्तमाचार्येण पतञ्जलिना-'**रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमिति**'।[१६] तत्रैवेदमप्युक्तम् - '**लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति**'।[१७] '**तस्मादध्येयं व्याकरणमिति**'[१८]। अत एवैतस्य व्याकरणस्य विषये '**वेदानां वेद**' इति छान्दोग्योपनिषद्युक्तमपि[१९]। एतेन समुपस्थापितेन वर्णनेनास्य त्रिमुनिव्याकरणस्य वेदाङ्गत्वं तु नूनमेव सिध्यति। सम्प्रति किमस्य वैशिष्ट्यमिति विचार्यते-

तत्र मानवानां परस्परं व्यावहाराय भाषाय आवश्यकता भवतीति प्रतिपादितमादावेव। व्यवहारे च वाक्यानामेवोपयोगः क्रियते जनैः। वाक्यानि च वक्तृदेशकालभेदेनानन्तानि वर्तन्ते। तानि च संस्कृतान्येव भवितव्यानीति सर्वशास्त्रकारणां निश्चयोऽतस्तानि संस्कृतान्यनन्तानि वाक्यानि कथं कश्चिदपि जनोऽवगच्छेदित्यत्रास्य व्याकरणस्य वर्तते किमपि

महद्वैशिष्ट्यम्। तच्च लिखितमाचार्येण नागेशेन **'तत्र प्रतिवाक्यं सङ्केतग्रहासंभवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघूपायेनाशक्यत्वाच्च, कल्पनया पदानि प्रविभज्य, पदे प्रकृतिप्रत्ययभागान् प्रविभज्य, कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्या'**[20] इति।

अर्थाद्देशकालकर्तृभेदेन सत्स्वप्यनन्तेषु वाक्येषु तेषां समेषामपि वाक्यानामन्वाख्यानं केनापि लघूपायेनाशक्यमतस्तत्र वाक्येषु वस्तुतः पदाभावेऽपि पदानां कल्पना क्रियते। एवं प्रकारेण **'घटमानय' 'पाठमानय'** इत्यादौ घटादिप्रकृतिसत्त्वे तेषामर्थाज्ञायन्ते, तदभावे च न ज्ञायन्ते। एवमेव 'अमादिप्रत्ययसत्त्वे तेषामर्था ज्ञायन्ते, तदभावे च न तेषामर्था इति। एवं प्रकारेणान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्र-तत्र प्रकृतीनां प्रत्ययानाञ्चार्थाः कल्प्यन्ते। **अत्रेदमवधेयं यत्** - कल्पितानामेतेषां पदार्थानामुपयोगस्तु व्याकरणशास्त्रीप्रक्रियानिर्वाहायैव भवति। लोके तु वाक्यस्यैव बोधजनकरूपेणोपयोगः क्रियते। वाक्येषु पदान्यसत्यानि पदेषु च प्रकृतिप्रत्ययादीन्यप्यसत्यान्येवेत्यत्र चाचार्यस्य भर्तृहरेरयं श्लोक एव प्रमाणभूतः -

पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा च न।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।[२१]

अत एतेन वक्तुं शक्यं यच्छब्दान्वाख्याने काचिद् विशिष्टारीतिराचार्यस्येति।

एतदतिरिच्येतोऽपि सन्ति काश्चन विशेषता अस्य व्याकरणशास्त्रस्य। तत्र च सर्वप्रथमा सर्वप्रमुख च विशेषता वर्ततेऽस्य शास्त्रस्य **'लाघवमूलिका दृष्टिः'**। अत एवोक्तमपि महाभाष्यकारेण **'लघ्वथ ँ चाध्येयं व्याकारणमिति।'**[21] अत एव कथितमप्यन्यत्र - 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा'[22] इति। एतस्याश्च निदर्शनं शास्त्रे प्रत्याहाररूपेणापि प्राप्यते। स एव प्रत्याहारो यत्र वर्णानां संक्षेपीकरणं भवति।[23] अपरा च विशेषतास्य शास्त्रस्य **'धातुपाठः'**। तत्र **'सर्वे शब्दा धातुजा'** इति वैयाकरणानां राद्धान्तः। आचार्येण पाणिनिना च द्विसहस्रधातव एते धातुपाठे उपनिबद्धाः। तेभ्यो द्विसहस्रधातुभ्यः सर्वेऽपि शब्दा निष्पादयितुं योग्या इति। इत्थमेव गणपाठोऽपि वर्तते। तत्र शब्दान्वाख्याने कमप्येकं शब्दं स्वीकृत्य तस्यान्वाख्यानं कृत्वैको मार्गो प्रदीयतेऽत्र। तेन च मार्गेण प्रतिपत्ता स्वयमेवान्येषामपि तादृशानां शब्दानामन्वाख्यानं करोति। तत्रापि शब्दा अनन्ता इति धिया तादृशानामन्येषां शब्दानां सङ्कलनमेकत्र कृतमाचार्येण। स एव च **'गणपाठ'**[24] इति नाम्नापि ज्ञायते। गणपाठेष्वपि 'आकृतिगणोऽयमिति'[25] कल्पना कृता वर्तते। तेनानेकेषां शब्दानां सिद्धिर्जायते। इदमप्येकं वैशिष्ट्यमस्य शास्त्रस्य। इत्थमेव केचन शब्दा एतादृशा अपि भवन्ति ये शिष्टोच्चारिता एव साधव इति स्वीक्रियन्ते। तत्सिद्ध्यर्थञ्चात्र यथा प्रक्रियां कृत्वा तेषां साधुत्वं भवति तथा प्रक्रियानुसर्तव्यति व्यवस्था वर्तते। सैव व्यवस्था शास्त्रेऽस्मिन् **निपातनमि**ति नाम्नापि व्यवीह्वता भवति। अत एवोच्यतेऽपि तद्विषये - **सिद्धप्रक्रियस्य निर्देशो निपातनमिति।**

तत्रानेन व्याकरणेन न केवलं लौकिकानामेव शब्दानामन्वाख्यानं क्रियतेऽपितु वैदिकानामपीत्युक्तमपि पूर्वम्। वैदिकशब्दसिद्धये च काचिद् विशिष्टा रीतिराचार्येण स्वीकृता वर्तते। तत्रैकं प्रमुखं सूत्रं भवति **'बहुलं छन्दसि'**[26] इति। अत्र प्रयुक्तस्य बहुलमिति पदस्यानेकधा व्याख्यानं क्रियते। तच्च श्लोकरूपेण कथ्यतेऽपि शास्त्रेऽस्मिन् -**क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्तीति।** अर्थाद्- वैदिकशब्दसिद्धय एतच्छास्त्रीयसूत्राणां प्रवृत्तिश्चतुर्धा भवति। क्वचित्तच्छास्त्रं प्रवर्तते, क्वचिच्च न प्रवर्तते, क्वचिद् विकल्पेन प्रवर्तते, क्वचिच्च सूत्रभिन्नं किमप्यन्यमेव कार्यं सञ्जायत इति। अत एव फलितार्थरूपेण कथितमप्याचार्येण दीक्षितेन - **'छन्दसि दृष्टानुविधिरिति'**[27]। अर्थाद् - वेदे यथा प्रयोगा दृष्टास्तथा प्रक्रिया कल्पनीयेति तात्पर्यम्।

एकापरा च महती विशेषता वर्ततेऽत्र

'**अनुबन्धकरणमिति।**'[28] तन्निमित्तकं कार्यमपि। अस्य च प्रसिद्धमुदाहरणं '**तव्यत्तव्यानीयरः**' [29] इति सूत्रमपि वर्तते। सूत्रेणानेन तव्यप्रत्ययस्याथ च तव्यत्प्रत्ययस्य च विधानं क्रियते। तत्र तव्यप्रत्ययेऽपि तदेव रूपं यत् तव्यति प्रत्यये सति। तथापि तव्यात् पृथक् तव्यतोऽपि विधानं कृतमाचार्येण। तस्य च प्रयोजनं '**तित्स्वरितम्**'[30] इति स्वरितकरणमेव। इत्थमेवोदाहरणरूपेण द्वितीयमुदाहरणं द्रष्टुं शक्यं '**बहुव्रीहौ संख्येयेडजबहुगणात्**'[31] इति सूत्रम्। बहुव्रीहिसमासप्रकरणे पठितमिदं सूत्रम्। सूत्रेणानेन गणान्तशब्देभ्यो डच्प्रत्ययस्य (समासान्तस्य) निषेधः क्रियते। उदाहरणञ्च '**उपगणा**' इति। अत्र च उपगणशब्दात् कृतेऽपि डचि तदेव रूपमकृतेऽपि डचि तदेव रुपमित्युभयथापि रुपन्तु समानमेव तदा च कथमस्माच्छब्दात् डच्प्रत्ययस्य निषेधः क्रियते, यदि च क्रियते तर्हि तस्य किं फलमिति प्रश्ने समाधानं प्रदर्शितं तत्र – '**अत्र स्वरे विशेषः**'[32] इति। अर्थाद्–डचि सत्यसति च डचि, रूपे तु समानतैव किन्तु स्वरभेदस्तु भवत्येवायं स्वरभेद एव प्रयोजनमिति। तत्र सति च डचि डचश्चित्वात् '**चितः**'[33] इत्यन्तोदात्तो भवत्यसति च डचि यथानियमं '**बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्**'[34] इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमेव सञ्जायते। एतस्य स्वरस्य चोपयोगो वेदे भवत्येव। अस्मिन्नेव क्रम उणादिप्रक्रियाप्यायाति। तत्रापि शब्दनिष्पादनस्य विशिष्टा रीतिर्निदर्शिता वर्तते। उणादिप्रक्रियायाः परिचयं प्रददात्ययं श्लोकः –

संज्ञासु धातुरुपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥[35]

इत्थमेव क्रमेऽस्मिन् 'लिङ्गानुशासनस्यापि स्थानं वर्तते। लिङ्गानुशासनविषय इदमवश्यमवधेयं यत्–पूर्णरूपेण सर्वेषामपि शब्दानां लिङ्गनिर्धारणं शास्त्रेण न कर्तुं शक्यां लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य। अत एवोक्तमपि – '**लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति।**' अस्य चायं भावः–काचिदपि शास्त्रीयव्यवस्था लिङ्गानुशासने नैव हि समर्था। यतोहि शास्त्रीयनियमानामेकस्मिन् कालखण्डे व्यवस्थापनं क्रियते, किन्तु भाषा हि गतिशीला वर्तते। भाषाया गतिशीलत्वाल्लिङ्गव्यत्ययं स्वाभाविकमेव। त्रिमुनिव्याकरणञ्च यत्कार्यं लोकतः सिद्धं भवति, तस्यन्वाख्यानं नैव हि करोति। अतो लिङ्गस्य लोकाश्रयत्वालिङ्गविषयकनिर्धारणे लोकव्यवहार एव परमं प्रमाणम्। तस्माच्छास्त्रीयव्यवस्थां विनैव लोकव्यवहारेणैव यत्र लिङ्गनिर्धारणं भवति, तत्र लोकानुसरणमेव कर्तव्यं यत्र च लोकव्यवहारतः काप्यनुपपत्तिस्तत्र लिङ्गानुशासनस्य व्यवस्थाश्रयणीयेति। अत एव प्राप्तायामपि व्याकरणप्रक्रियया भिन्नलिङ्गतायां तत्र शास्त्रीयव्यवस्थाया लोकव्यवहार एव गरीयानिति मत्वा लोके यदि स शब्दो भिन्ने लिङ्गे वर्तते चेत्तर्हि तस्य शब्दस्य तदेव लिङ्गमिति हि स्वीक्रियते। अत एवोच्यतेऽपि तत्र–तत्र शास्त्रादौ **क्लीबत्वं लोकादि**त्यादिरूपेणेति। एतेन च यथामनीषं केषाञ्चनमेव वैशिष्ट्यानां दिग्दर्शनं कृतम्। वस्तुतस्तु '**सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यादिति**'[36] महाभाष्यकारवचनेन सर्वमपीदं व्याकरणशास्त्रं किमप्यलौकिकं वैशिष्टयं बिभर्त्तीति सुसिद्धमेव। अत्र चास्य शास्त्रस्य साधका अपि प्रमाणभूता इति।

सम्प्रति किमस्य लोकोपकारकत्वमिति चेत्तर्हि तदादावपि कथितं सम्प्रति च साररूपेणोच्यतेस्य यदेतेषां त्रयाणामपि मुनीनामपूर्वा या काचित् साधना वर्तते, सहैवेतेषां भाषाविषयकं यच्चिन्तनं वर्तते तस्यैकमात्रमुद्देश्यं सुसंस्कृतस्य सुशिक्षितस्य समाजस्य निर्माणमेव न हि तत्र कापि स्वार्थपरतैतेषामिति। अत एव शास्त्रेऽस्मिन् समाजस्य परिभाषापि '**समाजो ब्राह्मणानाम्**' '**पशूनां संघः समज**' इति रूपेण प्रदत्ता। अर्थाद् यस्मिन् समाजे ब्राह्मणा दूरदर्शिन, ज्ञानिनो निवसन्ति स एव समाजोऽन्यथा तु 'समज' एव। पशूनां संघ इति यावत्। एतेन सर्वमपीदं शास्त्रं लोको पकारकमिति सिध्यत्येवेति शम्।

सन्दर्भ-सूची :-

1. काव्यादर्शः, प्रथमपरिच्छेदः, श्लोकः–4

2. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकः-13
3. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, श्लोकः-16
4.वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां 'संख्या वंश्येन' इति सूत्रे ।
5. अष्टानामध्यायानां समाहारोऽष्टाध्यायी।
6. महाभाष्यम्-1/1/1
7. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुरिति हि सूत्रलक्षणम्।
8. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणा।। इति वार्तिकलक्षणम्।
9. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥ इति भाष्यलक्षणम्।
10. केषां शब्दानाम्? लौकिकानाम्, वैदिकानाञ्चेति महाभाष्ये पश्पशाह्निके।
11. लघुशब्देन्दुशेखरे माहेश्वरसूत्रव्याख्याप्रसङ्गे।
12. अइउण्.......हल् प्रभृतीनि।
13. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादि संज्ञार्थानि।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां माहेश्वरसूत्रपरिचयप्रसङ्गे॥
14. येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्, कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नम इति।
15. अइउण्.......हल् प्रभृतीनि।
16. महाभाष्यं पश्पशाह्निकम्।
17. महाभाष्यं पश्पशाह्निकम्।
18. महाभाष्यं पश्पशाह्निकम्।
19. छान्दोग्योपनिषदि सप्तमेऽध्याये प्रथमे खण्डे।
20. परमलघुमञ्जूषायां स्फोटनिरूपणप्रसङ्गे।
12. महाभाष्ये पश्पशाह्निके।
22. परिभाषेन्दुशेखरे परिभाषासंख्या-133
23. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र स प्रत्याहार इति प्रत्याहारशब्दार्थः।
24. वाक्यपदीयं ब्रह्मकाण्डम्, कारिकासंख्या-73।
25. रचयिता महर्षिपाणिनिः।
26. आकृत्यास्वरूपेण गण्यत इत्याकृतिगणः।
27. अष्टाध्यायीसूत्रसंख्या-2/4/39
28. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां सर्वसमासशेषे 'दिवसश्च पृथिव्याम्' इति सूत्रे।
29. इत्संज्ञकत्वम्, इत्संज्ञायोग्यत्वं वानुबन्धत्वमिति।
30. अष्टा.-4/1/96
31. अष्टा.-5/4/73
32. अष्टा.-6/1/163
33. अष्टा.-6/2/1
34. महाभाष्यम्।
35. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां उत्तरकृदन्तप्रकरणस्य प्रारम्भे समुदोरजः पशुषु। अष्टा.-3/3/69
36. तदेव।

- सहायकाचार्यः (नव्यव्याकरणे, अं०का०)
श्रीभगवानदासादर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः, हरिद्वारम्

पाणिनीयं शब्दशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम्।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन॥

- स्फुटकम्

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥
तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

-श्रीभर्तृहरिपादाः (वाक्यपदीये)

वेदाङ्गपरिचय

❑ आचार्य योगेन्द्र याज्ञिक...✍

अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्तेऽमीभिरिते अङ्गानि वेदानां अङ्गानि वेदाङ्गानि ''अर्थात् जिनके द्वारा किसी को जाना जाये उन्हे अङ्ग कहते हैं और वेदों के जो अङ्ग हैं वे ही वेदाङ्ग कहलाते हैं अर्थात् जिनके द्वारा वेदार्थ में प्रवेश होता है उन्हे वेदाङ्ग कहते है। वेद का मूलपाठ अत्यधिक पवित्र है उसमें परिवर्तन न हो , उच्चारण शुद्ध बना रहे और वेद मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान ठीक-ठीक हो जाये इसके लिये वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव हुआ है। वेदाङ्ग साहित्य में प्रायः सूत्र शैली को अपनाया गया है अतः कुछ विद्वानों ने इसे सूत्र साहित्य भी कहा है। पाश्चात्य विद्वान कीजी (Kaegi) कहते है कि **वैदिक साहित्य में सबसे बाद में होने वाली रचनाएं वेदाङ्ग हैं उन्हे सूत्र भी कहते हैं।**

वेदाङ्ग के अध्ययन की आवश्यकता –

वेद के ज्ञान के लिए वेदाङ्ग का अध्ययन पूर्ण रूप से सहायक है एतदर्थ धीमान जनों ने इसके अध्ययन के लिए विशेष जोर दिया है । महर्षि पतंजलि महाराज महाभाष्य में कहते हैं ''**ब्राह्मणो निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** अर्थात् ब्राह्मण जनों को बिना कारण के भी वेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिए । महर्षि दयानन्द जी ने भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कहा ''**मनुष्यै वेदार्थ विज्ञानाय व्याकरण अष्टाध्यायी महाभाष्याध्यनं ततो निघण्टु निरुक्त छन्दो ज्योतिषाणां च वेदाङ्गानाम्**''अर्थात् सब मनुष्यों को वेदार्थ विज्ञान के लिए व्याकरण(अष्टाध्यायी महाभाष्य)को पढ़ने के बाद निघण्टु निरुक्त छन्द ज्योतिष वेदाङ्गों को पढना चाहिए। शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग हैं। अब हम यहाँ संक्षेप से इनका परिचय प्रस्तुत करते हैं।

१ f'k{kk & ''**वर्णानां पदानां वोच्चारणं स्वरव्यंजनस्थानकरणप्रयत्नाल्प- प्राणता- महाप्राणतोदात्तादिज्ञानपूर्वक शिक्ष्यते अनया सा शिक्षा** ''अर्थात् स्वर व्यंजनों के स्थान प्रयत्न करण अल्पप्राण महाप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि का ज्ञान पूर्वक वर्णों व पदों का उच्चारण जिन ग्रन्थों मे सिखलाया जाता है उन्हें शिक्षा ग्रन्थ कहते हैं । ''**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य** '' पुरुष के अङ्गों से तुलना करते हुए शिक्षा वेदाङ्ग को वेदरूपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय कहा गया है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए आचार्य सायण अपने ऋग्वेदभाष्य भूमिका में कहते हैं- ''**स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा** '' अर्थात् जहां स्वर और वर्ण आदि के उच्चारण की रीति का उपदेश दिया जाता है, वह शिक्षा है । तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षा के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है- **शिक्षां व्याख्यास्यामः वर्ण, स्वर, मात्रा बलम् साम सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः**। इससे ज्ञात होता है शिक्षा वेदाङ्ग में उच्चारण सम्बन्धि इन छह विषयों का विवेचन होता है। इनका परिचय निम्न है :-

(१) वर्ण – अ, इ, उ, आदि वर्णों के उच्चारण का प्रकार । **(२) स्वर** – उदात्त अनुदात्त स्वरित का उच्चारण। **(३) मात्रा** – ह्रस्व दीर्घ प्लुत का उच्चारण। **(४) बल**- स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्णों का उच्चारण। **(५)साम**- दोषरहित माधुर्य

आदि गुण सहित उच्चारण। **(६) संतान**– सन्धि के नियमों के साथ उच्चारण ।

शिक्षा वेदाङ्ग में ३ प्रकार की रचनाएं परिगणित होती हैं –

(१) प्रातिशाख्य – वेदों की विभिन्न शाखाओं के उच्चारण की भिन्न –भिन्न परिपाटी प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अभिहित है । वेदों की प्रत्येक संहिता की प्रत्येक शाखा का अपना प्रातिशाख्य ग्रन्थ है प्रतिशाखा से सम्बन्धित होने के कारण इनका नाम प्रातिशाख्य पड़ा है। प्रातिशाख्यों की विषय सामग्री के प्रमुख तत्त्व निम्न हैं। (क) वैदिक मन्त्रों का उच्चारण व स्वरविधान (ख) पदों के मिलने पर होने वाली संधि (ग) छन्द की आवश्यकता के कारण ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ करने का विधान (घ) संहिता व पद पाठ के सम्बन्ध में अनेक नियमों का विवेचन आदि।

(२) शिक्षा ग्रन्थ– प्रातिशाख्यों के बाद शिक्षा ग्रन्थों की रचना कारिकाओं में हुई इनमें सरल शैली सर्व साधारण के लिए उपलब्ध होती है। शिक्षा ग्रन्थों की संख्या में मतभेद हैं । डॉ सिद्धेश्वर वर्मा ६० ग्रन्थ, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल अपने ग्रन्थ वैदिक सहित्य और संस्कृति में इनकी संख्या २३ और काशी से प्रकाशित शिक्षा संग्रह नामक ग्रन्थ में ३२ शिक्षाओं का संग्रह है। परन्तु आजकल प्रमुखरूप से निम्न ग्यारह शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । पाणिनीय, याज्ञवल्क्य, वासिष्ठी, कात्यायनी, पाराशरी, माण्डव्यी, अमोघानन्दिनी, माध्यन्दिनी, केशवी, नारदीय, माण्डूकी शिक्षा इन शिक्षा ग्रन्थों में शुद्ध उच्चारण का महत्त्व व नियम अच्छे व बुरे पाठकों का विवरण आदि प्राप्त होता है ।

(३) शिक्षा सूत्र – उपर्युक्त शिक्षा ग्रन्थों से भी प्राचीन कुछ शिक्षा सूत्र भी उपलब्ध होते हैं , इनमें वर्णों की उत्पत्ति स्थान और उच्चारण में होने वाले प्रयत्न आदि पर प्रकाश डाला गया है , इन शिक्षा सूत्रों में आपिशलि पाणिनि द्वारा रचित शिक्षा सूत्र प्रमुख है । वर्तमान शिक्षा वेदाङ्ग में महर्षि पाणिनि प्रोक्त वर्णोच्चारण शिक्षा को मूर्धाभिषिक्त गौरव सम्प्राप्त है। इसमें आठ प्रकरण हैं जो निम्न हैं (१) करण (२) स्थान (३)आभ्यान्तर प्रयत्न (४) बाह्य प्रयत्न (५) स्थान पर वायु का पीडन (६) वृत्तिकार (७) प्रक्रम (८) नाभितल से वायु का उत्थान । इस शिक्षा वेदाङ्ग की इतनी उपयोगिता है कि आज का ये जो ध्वनि विज्ञान व भाषा विज्ञान है वह इसी शिक्षा वेदाङ्ग का प्रपंच है । इसके बिना पढे वेदोच्चारण भी सम्भव नही है ।

(२) dYi & कल्प शब्द कृपूँ सामर्थ्ये धातु से सिद्ध हुआ है इसी को दृष्टि में रखते हुए आचार्य सायण कहते हैं **''कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगेऽत्र ''** जहाँ यागप्रयोग समर्थ होते हैं उसे कल्प कहते हैं । कल्प ग्रन्थों में जीवन से मृत्यु पर्यन्त मानवोपयोगी कर्म का विधान वर्णित है। कल्प सूत्रों को विविध ा विद्याओं का सारग्रन्थ भी कहा जाता है।

ये कल्प सूत्र चार प्रकार के है–

(१) श्रौतसूत्र(२)धर्मसूत्र(३)गृह्यसूत्र(४)शुल्वसूत्र

(क) श्रौतसूत्र– श्रौतसूत्रों में श्रुतियों में प्रतिपादित याज्ञिक विधि विधान का विवेचन किया गया है । इन यज्ञो मे आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण इन तीन अग्नियों का उपयोग होता है । इसमें सप्त हविर्यज्ञ और सप्त सोम यज्ञ है । इनके अन्तर्गत दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, सौत्रामणि, अग्निष्टोम , सोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि हैं। वेद की प्रत्येक शाखाओं के श्रौतसूत्र भी प्रायः मिलते हैं। यथा ऋग्वेद का आश्वलायनादि यजुर्वेद का बौधायन, वैतान सामवेद का निदानश्रौत सूत्र तथा वाराहादि अथर्ववेद का है।

(ख) गृह्यसूत्र– गृह्यसूत्रों को हम गृहस्थाश्रम की आचारसंहिता कह सकते हैं इसमें पंचमहायज्ञ षोडश संस्कारादि का दिग्दर्शन होता है । गृह्य सूत्रों को हम प्राचीन भारतीय गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठताओं को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ भी कह सकते हैं ।

(ग) धर्म सूत्र– धर्म का तात्पर्य कर्त्तव्य है जैसे ग्रह्य सूत्रों में गृह्य संस्कारों का वर्णन है वैसे ही सामजिक जीवन और सामाजिक आचार व्यवहार का विवेचन धर्म सूत्रों में हुआ है यहां हमें वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का दिग्दर्शन भी होता है ।

(घ) शुल्व सूत्र– यहां शुल्व का अर्थ है ''नापने की रस्सी'' ये शुल्व सूत्र क्रियात्मक हैं इनमें वेदिका और मण्डप आदि निर्माण के लिए उचित लम्बाई चौड़ाई और बनाने की विधी का विवरण है। आजकल मिस्त्री लोग इसी को सूल कहते हैं। यह रेखागणित की दृष्टि से विशेष है।

(३) 0;kdj.k& व्याकरण शब्द वि+आङ् उपसर्गपूर्वक कृ''धातु से ल्युट् (अन्) प्रत्यय करने पर बना है । **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्द अनेन तद व्याकरणम्** अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृति प्रत्यय का विशलेषण करके शब्द की उत्पत्ति की पद्धति ज्ञात होती है वह व्याकरण कहाता है । ''**मुखं व्याकरणम् स्मृतम्** '' वेद पुरूष का व्याकरण मुख है इसलिए महर्षि पतंजलि कहते है ''**प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम्** '' अर्थात् छः अङ्गों में व्याकरण प्रधान है आचार्य सायण भी कहते हैं–''**व्याकरणमपि प्रकृति प्रत्ययादि उपदेशेन पदस्वरूपं तदर्थ निश्चयाय प्रसज्जते** अर्थात् व्याकरण प्रकृति और प्रत्यय को बतलाकर पद के स्वरूप का और पद में अर्थ का निश्चय कराता है पाणिनि (अष्टाध्यायी), कात्यायन (वार्तिक), पतंजलि (महाभाष्य) ये तीनों पाणिनि व्याकरण के अन्तर्गत हैं जिसको अघत्वे व्याकरण वेदाङ्ग के रूप मे माना जाता है। इन्हीं के आधार पर व्याकरण शास्त्र की नव्य व प्राच्य दो धारायें प्रचलित हुईं ।

(४) fu#Dr& इसमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है जैसे कि सायणाचार्य ने इसका लक्षण ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में किया है **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** अर्थात् अर्थज्ञान के लिए स्वतन्त्र रूप से जहां पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है। इससे निघण्टु तो वेदाङ्ग में आयेगा पर निरूक्त नहीं तो एक दूसरी निरुक्ति की– **एकैकस्य पदस्य सम्भविता अवयर्था यत्र निःशेषेण उच्यन्ते तदपि निरुक्तम्** इससे निरूक्त वेदाङ्ग मे आयेगी क्योंकि यहा लक्षण बना एक–एक पद के सम्भावित अवयवार्थ (प्रकृति–प्रत्ययार्थ) साकल्येन बताए गये हैं वह निरुक्त है । प्रायः अन्य वेदाङ्ग जहां सूत्रों मे है वही निरुक्त भाष्यशैली के गद्य में है जिससे अर्थावगम मे बड़ी सहायता मिलती है।

यह निरुक्त निघण्टु नामक वैदिक कोश का भाष्य है तथा यास्क का लिखा हुआ है। यह निघण्टु ग्रन्थ पांच अध्याय और तीन काण्डों मे विभक्त है । प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहलाते हैं। चौथा ऐकपदिक या नैगम काण्ड कहलाता है और पांचवा अध्याय दैवत काण्ड है। इन्हीं निघण्टु के पांच अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के चतुर्दश अध्यायों में की गई है । निरुक्त के प्रथम और द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निरुक्त की भूमिका है २–४ तक नैघण्टु पदों की व्याख्या और ५–६अध्याय में नैगम काण्ड की व्याख्या एवं ७–१२ तक दैवत काण्ड की व्याख्या है अन्तिम दो अध्याय परिशिष्टात्मक है। इस प्रकार चतुर्दशाध यायी निरुक्त वेदाङ्ग के रूप में सुप्रतिष्ठित है ।

(५) NUn& छन्दः पादौ तु वेदस्य ये छन्द वेद

के पाद स्थानी है । यास्क ने छन्द की व्युत्पत्ति ''छदि''धातु से करते हुए उसका निर्वचन किया – **छन्दांसि छादनात्** अर्थात् वेद को ढकने के कारण ही छन्दस् कहा जाता है । कात्यायन सर्वानुक्रमणी में कहते हैं ''**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः** '' अक्षरों के परिमाण को छन्द कहा जाता है इससे स्पष्ट है कि वैदिक छन्दों में अक्षरों की गणना होती है मात्राओं की नहीं । अक्षर गणना के साथ ही वैदिक छन्दों की विशेषता यह है कि उनमें चरणों की संख्या कम से कम एक और अधिक से अधिक पांच होती है जबकि लौकिक छन्दों में सदैव चार ही चरण होते हैं ।

प्रमुख वैदिक छन्द– गायत्री –२४ अक्षर , उष्णिक –२८, अनुष्टुप–३२, बृहती–३६, पंक्ति–४०, त्रिष्टुप–४४, जगती–४८ अक्षरों की होती है, इन्हीं सात छन्दों में अक्षरों की संख्या कम और अधिक कर लेने से इनके अन्य भेद हो जाते हैं । वैदिक छन्दों में किसी चरण में जब एक अक्षर कम हो जाता है तब वहाँ सन्धि युक्त अक्षर को सन्धि हटाकर दो अक्षरों की भांति पढ़ना होता है । छन्दो वेदाङ्ग की प्रतिनिधि रचना छन्दसूत्र के नाम से आचार्य पिंगल की रचना प्राप्त होती है इसमे आठ अध्याय हैं इसके प्रारम्भिक चार अध्याय मे वैदिक छन्दों का वर्णन है शेष में लौकिक छन्दों का वर्णन है ।

(६) T;kfr"k& ज्योतिषामयनं चक्षुः वेदपुरुष का चक्षु ज्योतिष को कहा गया है । ''**ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रम् ज्योतिषम्** '' अर्थात् जो सूर्यादि ग्रहों का बोधक शास्त्र है वहीं ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध है। **द्योतते प्रकाशते तत् ज्योति ज्योतिरधि कृत्यकृतो ग्रन्थो ज्योतिष**। द्युत दीप्तौ धातु द्युतेरिसन्नादेक्ष जः इस सूत्र से इसिन् प्रत्यय जकारादेश करके ज्योतिष शब्द बना ।

महर्षि दयानन्द जी के अनुसार ज्योतिष के अन्तर्गत बीज गणित अंकगणित भूगोलविद्या खगोल विद्या और भूगर्भ विद्या का ग्रहण होता है। इसके मुख्य ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि है । ज्योतिष की ३००अङ्ग भूत विद्या है, ज्योतिष शास्त्र को प्राचीन समय में सवित्र विद्या कहते है। गर्गाचार्य ज्योतिष के २४अङ्ग तथा ४० उपाङ्ग कुल मिलाकर ६४अङ्ग मानते थे । वर्तमान में ज्योतिष के दो भाग देखे जाते हैं **(१) सिद्धान्त ज्योतिष–** इसमे त्रुटि से लेकर कल्प तक की गणना व्यक्त अव्यक्त गणित , सूर्य व नक्षत्र आदि का ज्ञान है इसे ही हम स्वीकार करते हैं इसी का वेदाङ्गत्व है । **(२) फलित ज्योतिष–** इसके दो भेद है (१) संहिता–इसमे ग्रह, नक्षत्रों के द्वारा तात्कालिक ग्रहों की स्थिति देखकर दुर्भिक्ष, सुवृष्टि, शुभ–अशुभ फल जानना जिसे हम मुहूर्त देखना कहते हैं। (२) होरा अथवा जातक–जिससे जन्म काल को देखकर समग्र जीवन वृत्तान्त बताना ।

इस होरा का एक और भाग उसे ताजिक कहते हैं इससे हर वर्ष हर मास का फल निकाला जाता है परन्तु फलित ज्योतिष को हम वैदिक सिद्धान्त के अन्तर्गत सही स्वीकार नहीं करते हैं । २०० वर्ष पहले जर्मन मे एक के रलर नाम का ज्योतिष का विद्वान् हुआ उसने फलित के सम्बन्ध ा में लिखा है ''**सिद्धान्त रूपी विदुषी माता की फलित विद्यारूप एक मूर्ख बेटी है और माता का जीवन केवल उसी मूर्ख से है।**'' निश्चय ही हम फलित ज्योतिष की अनुपयोगिता को देखते हुए सिद्धान्त (गणित) ज्योतिष की उपयोगिता को समझकर वेदाध्ययन को सुगम करें ।

हम निश्चय ही वेदाङ्गों का पढ़ाना करके वेदार्थ के ज्ञान को सुगम कर सकते हैं एतदर्थ वेदाङ्गों का अध्ययन करें और करायें ।

–आर्ष गुरुकुल होशंगाबाद (म.प्र.)

वेदाङ्ग ज्योतिष की उपयोगिता

❑ सुनीता ठक्कर...

वेदार्थ के लिए ज्योतिष वेदाङ्ग के महत्व को स्वीकार किया जाता है।

वेदाङ्गों का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है –

शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोतमुक्तं निरुक्तं च कल्पः करौ। या तु शिक्षाऽस्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं आद्यैर्बुधैः॥[१]

प्राचीन विद्वानों ने बताया है कि वेदरूपी शरीर के लिए व्याकरण मुख के ज्योतिष नेत्रों के और निरुक्त श्रोत्रों के तुल्य है, कल्प हाथों के समान है और शिक्षा नासिका सदृश है, तथा छन्द वेद के पैर तुल्य हैं।

इसी प्रसङ्ग में ज्योतिष के महत्त्व की चर्चा इन शब्दों में की गई है –

वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चान्गमध्येऽस्य तेनोच्यते। संयुक्तोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाऽङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः॥[२]

ज्योतिष शास्त्र के शरीर का चक्षु है अतः वेदाङ्गों में इसको मुख्यता दी जाती है। जिस प्रकार कोई कान, नाक आदि अङ्गों से युक्त होते हुए भी नेत्रहीन होने के कारण अकिंचित्कर ही बना रहता है, उसी प्रकार अन्य वेदाङ्गों का ज्ञाता होने पर भी ज्योतिष न जानने वाला विद्वान वेदार्थ में पूर्ण सफल नहीं हो सकता। यदि ज्योतिष वेदाङ्गों को प्रधान अङ्ग न मानकर अन्य अङ्गों के समान ही समझा जाए तब भी ज्योतिष का अपना महत्त्व बना ही रहेगा। वेदार्थ के लिए ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन करना ही चाहिए।

ज्योतिष का अर्थ **द्युत दीप्तौ**[३] धातु से **'द्युतेरिसिन्नदेशच जः'**[४]। इस सूत्र से शब्द सिद्ध होता है। जो विद्या ज्योतिषों का विवरण प्रस्तुत करे वह ज्योतिषशास्त्र है। इस आधार पर ज्योतिषशास्त्र की विषयवस्तु है – सृष्टि विज्ञान।

सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं की गति, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि का निर्माण, सूर्य, पृथिवी आदि का आकार तथा गतियाँ, आकर्षण शक्ति, दिवस – रात्रि, ऋतुएँ, सर्वत्र एक समान ऋतुओं का अभाव क्यों? समुद्र क्या है? समुद्र में ज्वार – भाटा क्यों? अन्य तूफान आदि क्यों? चन्द्रमा – उदय, वृद्धि, क्षय, पुच्छल तारे, उल्का पात, अयन (दक्षिणायन, उत्तरायन), वर्ष, मन्वन्तर, कल्प, महत्कल्प, प्रलय, महत्प्रलय, आकाश, नक्षत्र आदि का परिज्ञान ज्योतिषशास्त्र का विषय है।

प्रकाश क्या है? ज्योति का स्वरूप, प्रकाश की गति, प्रकाश की सीमा, विद्युत् शक्ति, आकाश आदि वैज्ञानिक बातों का सम्यक् ज्ञान ज्योतिष के अन्तर्गत है।

ज्योतिष शास्त्र के इस महत्व को दृष्टि में रखते हुए महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि – **'दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र, सूर्यसिद्धान्त आदि जिसमें बीजगणित, अङ्कगणित, अङ्ग, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, इसको यथावत् सीखें।'**[५]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्योतिष शास्त्र का व्यापक क्षेत्र है वैदिकविज्ञान की समझ ने वेदार्थ के अनुसार क्रियात्मक कर्मकाण्ड में ज्योतिष का अपना विशेष महत्व है। परन्तु खेद है कि जैसे वेदों की उपेक्षा हुई वैसे ही वेदाङ्गों की भी उपेक्षा हुई। संस्कृत भाषा का वैदुष्य केवल व्याकरण और दर्शन तक ही सीमित रह गया और उसमें भी अनार्ष पद्धति ने आर्ष साहित्य को उपेक्षित बना दिया। अन्य वेदाङ्गों की भांति ज्योतिष के अध्ययन की भी उपेक्षा हुई। यही नहीं, ज्योतिष को केवल भविष्य देखने का शास्त्र मानकर उससे समाज में

अन्धविश्वास का प्रसार किया जाने लगा। भविष्य ज्ञान की मिथ्या कल्पना ने मानव जाति के मानसिक पतन का कार्य किया है और अधिकांश शिक्षित समाज भी अशिक्षितों की भाँति हस्तरेखा, तन्त्र, मन्त्र, मुहुर्त, तिथि, ग्रह, नक्षत्र, राशि, शकुन, प्रश्न, स्वप्न, आदि के भ्रमजाल में भटक रहा है। वास्तव में ज्योतिष का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। हम जीवन के प्रत्येक कार्य का समय निर्धारित करते हैं, प्रत्येक नैतिक, नैमित्तिक कार्य के साथ समय का सम्बन्ध सुस्पष्ट है और समय का सम्बन्ध ज्योतिष से है, अतः ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। इस व्यवहारिक उपयोगिता के साथ -साथ वैदिक ज्ञान विज्ञान में ज्योतिषज्ञान की आवश्यकता सुस्पष्ट है, इसी कारण ज्योतिष को वेद का नेत्र बताया जाता है।

ज्योतिषामैनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।[६]

आर्यसमाज ने महर्षि दयानन्द की भावना के अनुसार फलित ज्योतिष के अन्धविश्वास को दूर करने का व्यापक प्रचार किया परन्तु साथ ही इस बात का खेद भी है कि ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन की व्यापक उपेक्षा भी हुई है।

श्री गंगाप्रसाद एम. ए. रिटायर्ड चीफ जज ने सूर्य सप्ताश्व रश्मि और ज्योतिष चन्द्रिका आदि कुछ पुस्तकें लिखी श्री वेदव्रत मीमांसक का ज्योतिष विवेक ग्रन्थ भी उत्तम ग्रन्थ है परन्तु इतने से ही ज्योतिष वेदाङ्ग के अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

ज्योतिष के नाम पर आज जो व्यापक अन्धविश्वास है, उनका खण्डन करने के लिए हमें वास्तविक ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान तैयार करने चाहिए।

ज्योतिष वेदाङ्ग विज्ञान के प्रयोजन

ज्योतिष वेदाङ्ग के क्या प्रयोजन है? इसके अध्ययन से हम क्या लाभ उठा सकते है? इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए हमें महर्षि दयानन्द की निम्न पङ्क्तियाँ ध्यान आ रही है - 'अनेकानेक करोड़ो भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोक निर्माण, धारण, भ्रमण, नियम में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता।'[७]

'जो विद्यादि उत्तम गुणों का देने वाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है।'

सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे[८]

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि ज्योतिष द्वारा सृष्टि विज्ञान मानव हृदय में आस्तिकता की भावनाओं को सुदृढ़ करता है।

ज्योतिष के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए ज्योतिष विवेक ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रयोजन दिये गये हैं। १. सृष्टि विज्ञान। २. आस्तिक भावना। ३. तत्वज्ञान। ४. अघमर्षण। ५. वेदार्थ ज्ञान। ६. वैदिक लौकिक शब्दज्ञान। ७. वेदनित्यत्वज्ञान। ८. वेदरक्षा। ९. ऊह। १०. आगम। ११. लघ्वर्थम्। १२. असन्देहार्थम्। १३. दिग्विज्ञान। १४. देशज्ञान। १५.कालज्ञान। १६. गणितज्ञान। १७. देशभक्ति (ज्योतिषशास्त्र के उच्चकोटि के राष्ट्रीय विद्वानों आर्यभट्ट, भास्कराचार्य आदि पर गर्व तथा राष्ट्र गौरव की अनुभूति) १८. फलित का अन्धकार निवारण (फलित ज्योतिष के नाम पर ग्रहण आदि के अन्धविश्वासों का निराकरण) १९. शिल्प विज्ञान (ज्योतिष सिद्धान्तों के क्रियात्मक-ज्ञान विज्ञान के लिए यन्त्रों का निर्माण करने के लिए उच्च कोटि का शिल्प विज्ञान विकसित करना पड़ता है) २०. लोक, लोकान्तर गमन (आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रलोक यात्रा कर चुके हैं, तथा मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि के लिए मानव प्रयत्नशील है। २१. अन्तरिक्ष में उपग्रह संचार व्यवस्था। २२. इतिहास, काल निर्णय - गणित ज्योतिष द्वारा वर्णित तिथि, मास, नक्षत्र आदि के समय ज्ञान करके इतिहास की घटनाओं का निर्णय।

इस प्रकार ज्योतिष के वास्तविक अर्थों और प्रयोजनों का ज्ञान सर्व साधारण को कराना शिक्षाशास्त्रियों का कार्य है। आधुनिक समय में ज्योतिष विज्ञान की बहुत - सी बातें विज्ञान विषय के अध्ययन अध्यापन में

बताई जाती है, परन्तु प्राचीन भारतीय इन वैज्ञानिक तथ्यों को जानते थे, इस बात की घोर उपेक्षा की जाती है। पृथिवी की आकर्षण शक्ति, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र की गति ऐसी ही अन्य विषयों पर पहले तो बहुत व्यापक चिन्तन हुआ है। इन सबका परिज्ञान ज्योतिषशास्त्र के इतिहास के रूप में प्रत्येक भारतीय को कराया जाना चाहिए। विशेषकर आर्य शिक्षणसंस्थाओं में प्राचीन भारत की गौरव गाथा को महत्व दिया जाना चहिए। आर्य समाज के प्रारम्भिक युग में शिक्षा संचालन ने इस भावना को ध्यान में रखा और बढ़ाया, परन्तु आज सबकी उपेक्षा हो रही है। संचालकों में परिषद्, विश्वविद्यालयों के निर्धारित पाठ्यक्रमों से बाहर जाकर अपना दृष्टिकोण छात्रों तक पहुँचाने का उत्साह शिथिल हो चुका है। आर्यसमाज के वैदिकशिक्षा के, भारतीय शिक्षा के गौरव की स्थापना के लिए आवश्यक है कि ज्योतिष विज्ञान के रहस्यों और उनके प्राचीन अनुसन्धानों का परिचय हम नयी पीढ़ी को करायें।

ज्योतिष के नेत्र से वेदार्थ तो प्रकाशित होगा ही, भारत का गौरव भी प्रकाशित होगा तथा समाज में व्याप्त फलित ज्योतिष की मिथ्या भावना समाप्त होगी।

सन्दर्भ-सूची :-

1. सिद्धान्तशिरोमणी, लेखक-श्रीभास्कारचार्य
2. सिद्धान्तशिरोमणी, लेखक-श्रीभास्कारचार्य
3. धातुपाठ
4. उणादिण-2/112
5. तृतीय समुल्लास
6. (पाणिनीयशिक्षा)
7. सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८
8. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषय:, पृष्ठ ११०

-असि.प्रोफेसर,
डी. एन. पी. आर्टस् एण्ड कॉमर्स
कालेज, डीसा (गुजरात)

विद्याधिकारिण: के सन्ति?

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम,
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय,
न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्॥१॥

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णा-
वदु:खं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च,
तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥२॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते,
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीया-
स्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥३॥

यमेव विद्या: शुचिमप्रमत्तम्,
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह,
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥४॥

-यास्काचार्य: (निरुक्तम्)

वेदाङ्ग छ: हैं -

१. शिक्षा	२. कल्प	३. व्याकरण
४. निरुक्त	५. छन्द	४. ज्योतिष्

वेदों का यथार्थ ज्ञान वेदाङ्गों के आश्रय से ही सम्भव

❑ मनमोहन कुमार आर्य...✍

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। सभी विद्याओं का विस्तार वेदों के आधार व ज्ञान से ही सम्भव हो सका है। वेद सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा से उत्पन्न हुए। परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि की थी। इस अमैथुनी सृष्टि में सभी स्त्री व पुरुष युवावस्था में उत्पन्न हुए थे। इन युवाओं में चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को ईश्वर ने चार वेदों का ज्ञान दिया। वेदों का ज्ञान संस्कृत भाषा में है जो मनुष्यों की बनाई हुई भाषा नहीं अपितु ईश्वर की अपनी भाषा है। संसार की यह पहली व अन्तिम भाषा है जो मनुष्यकृत नहीं है जबकि अन्य सभी भाषायें मनुष्यकृत हैं। मनुष्यकृत भाषा न होने के कारण ही वेदों की संस्कृत भाषा अनेक दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट भाषा है। चारों वेद मन्त्र सहिताओं में हैं जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहलाते हैं। इन चार ऋषियों को परमात्मा ने एक एक वेद का ज्ञान दिया था। इन ऋषियों ने ईश्वर की प्रेरणा से वह ज्ञान जो उनको प्राप्त हुआ था, ब्रह्मा जी नाम के अन्य ऋषि को कराया। यह भी जान लें कि परमात्मा ने चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान अर्थ सहित दिया था और इन ऋषियों ने भी ब्रह्मा जी को चारों वेदों का ज्ञान अर्थ सहित ही कराया था। यदि वेदों का ज्ञान अर्थ सहित न दिया जाता तो फिर इन ऋषियों को वेद ज्ञान प्राप्त होने का कोई महत्व ही न होता। यह ऐसा ही होता कि हम किसी भाषा को बोलना तो जानते हैं, सुन तो सकते हैं परन्तु उसके अर्थ नहीं जान सकते। ऐसे विशेष ज्ञान वेदों का अर्थ न जानने से वेदों का कोई महत्व ही न होता। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि ईश्वर ने वेदों का ज्ञान अर्थ सहित ही दिया था। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में पांच शिक्षक, ब्रह्मा, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा तैयार हुए जिन्होंने शेष मनुष्यों अर्थात् स्त्री पुरुषों को वेदों व वेदों की मुख्य मुख्य शिक्षाओं का ज्ञान कराया और बाद में कुछ लोगों को चारों वेद स्मरण कराने सहित उनका अर्थ ज्ञान भी कराया। यह ज्ञात करना कि ब्रह्मा जी को कितने समय में वेदों का अर्थ सहित ज्ञान हुआ होगा, बता पाना सम्भव नहीं है।

वेद संस्कृत भाषा में हैं और छन्दों में बद्ध हैं। वर्तमान में वेदों के ज्ञान के लिए जिन अंगों का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होता है उनमें प्रथम तीन शिक्षा ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ एवं निरुक्त–निघण्टु का ज्ञान आवश्यक है। बिना इन तीन अंगों के कोई मनुष्य वेदों के मन्त्रों के अर्थ को किंचित भी नहीं जान सकता। शिक्षा ग्रन्थों से हमें वर्णमाला, अक्षरों व मात्राओं आदि सहित अक्षरों व शब्दों के उच्चारण का ज्ञान प्राप्त होता है। किसी भी भाषा को जानने के लिए उस भाषा की वर्णमाला, उनके अक्षरों का उच्चारण, शब्दों के उच्चारण व उनके अर्थों का ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षा ग्रन्थ संस्कृत की वर्णमाला का ज्ञान कर लेने के बाद संस्कृत की व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। वेदों के शब्द अर्थ व सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत की जिस व्याकरण का अध्ययन सर्वाधिक लाभप्रद होता है उसे अष्टाध्यायी–महाभाष्य पद्धति कहा जाता है। निरुक्त ग्रन्थ महर्षि यास्क का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ में वेदों के पदों अर्थात् शब्दों के अर्थों की व्याख्या व निर्वचन दिये गये हैं। कुछ मन्त्रों के भाष्य भी निरुक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। निरुक्त से पूर्व वर्णोच्चारण शिक्षा और व्याकरण के सभी ग्रन्थों का ज्ञान व उनके प्रयोग की विधि ज्ञात हो जाने पर निरुक्त की सहायता से वेदों के मन्त्रों के अर्थ करने की आंशिक योग्यता अध्येता वा पाठक को प्राप्त हो जाती है। महर्षि दयानन्द जी ने इन ग्रन्थों का अध्ययन ही अपने विद्या गुरु प्रज्ञा चक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती जी से मथुरा में किया था। स्वामी दयानन्द स्वामी विरजानन्द जी के अन्तेवासी शिष्य थे। वह

स्वामी विरजानन्द जी की सभी प्रकार से सेवा शुश्रुषा करते थे। ऐसा करते हुए स्वामी जी अपनी शंकाओं का समाधान कर लिया करते थे और गुरु जी कुछ रहस्य व गूढ़ सिद्धान्त आदि की बातें अपने योग्यतम शिष्य दयानन्द को बताया करते थे। ऐसा करते हुए लगभग ढाई वर्षो (१८६०–१८६३) में स्वामी दयानन्द जी की शिक्षा पूर्ण हुई थी। गुरु विरजानन्द जी से ही सम्भवतः स्वामी जी ने ज्योतिष, कल्प ग्रन्थों व छन्द शास्त्र का कुछ व पूर्ण अध्ययन भी किया था।

वेद ईश्वरीय ज्ञान और सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। अतः वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल उच्चारण, शब्दार्थ व व्याकरण का ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है अपितु छन्द, ज्योतिष व कल्प ग्रन्थों का ज्ञान भी आवश्यक एवं लाभप्रद है अन्यथा वैदिक विद्वान, वेदभाष्यकार व वेद प्रचारक वेदों के मन्त्रों के यथार्थ अर्थ करने में भ्रान्तियुक्त हो सकते हैं। आर्यसमाज में यह अनुभव होता है कि हमारे पास व्याकरणाचार्य और निरुक्ताचार्य विद्वान तो अनेक हैं परन्तु छन्द शास्त्र, ज्योतिष व कल्प ग्रन्थों के विद्वान बहुत कम है। आज हम यह नहीं कह सकते कि हमारे पास कोई एक ऐसा विद्वान है जो वेद के सभी 6 अंगों का चोटी का विद्वान हो। ऐसी स्थिति में ऋषि दयानन्द एवं अन्य आर्य विद्वानों के वेदों पर भाष्य से ही हमारे विद्वान व पाठक वेदार्थ का निर्धारण करते हैं। हमारा सौभाग्य है कि वर्तमान में हमारे पास ऋषि दयानन्द जी ने जितना वेद भाष्य किया है, वह समस्त भाष्य अनेक आर्य विद्वानों के भाष्यों सहित उपलब्ध है। वेदों के भाष्य, वेदांगों व उपांगों का अध्ययन कर वेदार्थ को जानने में सरलता होती है। ऋषि दयानन्द ने संसार के लोगों पर महती कृपा कर वेदों का अन्वय, पदार्थ व भावार्थ सहित वेद भाष्य प्रदान किया है जिससे हिन्दी का ज्ञान रखने वाला साधारण व्यक्ति भी वेदों का अध्ययन कर वेदों का ज्ञान ग्रहण कर सकता है। उनके द्वारा लिखी गई चारों वेदों की भूमिका का ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' वेदों पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। एक प्रकार से यह चारों का संक्षिप्त व सार रूप में भाष्य ही है। इसमें वेदों के अधिकांश विषयों को विषयानुसार वेद मन्त्रों के भाष्यों सहित प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ को पढ़ लेने मात्र से ही चारों वेदों का संक्षिप्त ज्ञान हो जाता है। इसके बाद ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य व शेष भाष्य के लिए अन्य आर्य वेदभाष्यकारों के भाष्यों का अध्ययन किया जा सकता है।

ऋषि दयानन्द ने इतना ही नहीं अपितु सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि सहित आर्याभिविनय ग्रन्थ लिखकर भी वेदार्थ की बहुत बड़ी सेवा की है। इन सबके अध्ययन से एक प्रकार से मनुष्य वेदार्थ का बोध ही तो प्राप्त करता है। ऋषि दयानन्द के इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि उन्होंने संस्कृत में वेद भाष्य करने के साथ वेदभाष्य में मन्त्रों के हिन्दी पदार्थ व भावार्थ भी दिये हैं। उनका यह कार्य क्रान्तिकारी कार्य है। अविद्या से ग्रस्त संसार ने उनके वेद भाष्य एवं वैदिक ग्रन्थों के महत्व को नहीं जाना और उनकी उपेक्षा ही की। इससे ऋषि दयानन्द की अपनी तो कोई हानि नहीं हुई अपितु इससे देश देशान्तर के लोगों की ही हानि हुई है। वह ईश्वर के ज्ञान व शिक्षाओं से वंचित होकर ईश्वर की अवज्ञा व वेदविरुद्ध आचरण करने में प्रयत्नशील है जिसके परिणाम इसके लिए दुःखदायक होंगे, ऐसा कहा जा सकता है।

पं. गुरुदत्त विद्यार्थी जी ने अपने समय में वेदों के प्रचार प्रसार के लिए लोगों को अष्टाध्यायी आदि व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन कराने का कार्य किया था। इसी कार्य को बाद में पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पं. युधिष्ठिर मीमांसक, आचार्य भद्रसेन, आचार्या प्रज्ञादेवी जी आदि ऋषि भक्तों ने पूरी श्रद्धा से किया। लोगों को व्याकरणाचार्य बनाने के लिए आज गुरुकुल झज्जर, पौन्धा देहरादून, रेवली आदि में अनेक गुरुकुल चल रहे हैं। हमें लगता है कि जब तक हमारे पास गुरुकुल और व्याकरणाचार्य हैं, वेदों का ज्ञान सुरक्षित है। आवश्यकता समर्पित व त्याग भाव से कार्य करने वाले व्याकरणाचार्य तैयार करने की है जो सभी प्रलोभनों से दूर रहकर ऋषि दयानन्द के मिशन को आगे बढ़ायें। इसी के साथ इस लेख को विराम देते हैं...

– १९६ चुक्खूवाला–२, देहरादून

वर्त्तमानकाले शिक्षा-वेदाङ्गशास्त्रस्य प्रासङ्गिकता

❑ गोविन्ददासः, शोधच्छात्रः...✍

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रौत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[१]

प्राचीनानां भाषाणां मूलस्रोतो वेद एव। 'वेद'[२] भारतीयसंस्कृतेराधारस्तम्भः वर्तते । सायणाचार्येण तैत्तिरीय-संहिता-भाष्यभूमिकायां उक्तवान्- **''इष्ट-प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः''।** अङ्गशब्दस्यार्थो भवत्युपकारकः। अर्थाद्येन कस्यापि वस्तुनः स्वरूपज्ञाने साहाय्यं मिलति तदङ्गमिति कथ्यन्ते। वेदः स्वयमेवैकः दुरूहो विषयोऽस्ति। तदर्थज्ञाने तस्य कर्मकाण्डस्य च प्रतिपादने यान्युपयोगीनि शास्त्राणि सन्ति तान्येव वेदाङ्गानि भवन्ति। अतोऽङ्गशब्दस्य व्युपत्तिलभ्योऽर्थः- ''अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरित्यङ्गम्'' इति सर्वैः स्वीक्रियते। येन कस्यापि वस्तुनः ज्ञानं भवति तद्वस्तु अङ्गम् इति उच्यते। तैत्तिरीयारण्यके- ''अङ्गैर्यज्ञम्'' इत्युक्तम्। एवं वेदप्रतिपादकवस्तुनि वेदाङ्गानि सन्तीति स्पष्टं भवति। तेनेदं स्फुटं यद् वेदमन्त्रेषु येषां यागानुष्ठानादीनां प्रतिपादनमस्ति, ते यज्ञाः वेदानां षडङ्गैरेव सम्पाद्यन्ते। तस्मादङ्गानां वेदप्रतिपाद्यविषयसम्पादकत्वाद्विशिष्टं महत्वमस्ति। सर्वेऽपि विद्वांसः भारतीयाः दार्शनिकाः, आचारशिक्षणप्रवणाः स्मृतिकाराः, वैयाकरणाः, अन्ये च शास्त्रकाराः वेदानां परमप्रामाण्यं प्रतिपदम् उद्घोषयन्ति। यतोहि- **''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयः ज्ञेयश्च''**[३] इति। वचनेन सर्वेषां ब्राह्मणानां कृते वेदेन सह वेदस्याङ्गान्यपि ज्ञातव्यानीति निर्दिश्यते। वेदभाष्यकारः श्रीसायणाचार्यः अपि उक्तवान्-**'अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि'**। सर्वप्रथमं मुण्डकोपनिषदे अपरा विद्यान्तर्गते वेदचतुष्ट्यस्य अनन्तरम् वेदज्ञस्य षडङ्गानां नामोल्लेखः कृतः अस्ति। तद्यथा-**'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिमिति।**॥[४] वेदाङ्गानि षड् भवन्ति। तद्यथा- (१) शिक्षा[५] (२) कल्पः[६] (३) व्याकरणम्[७] (४) निरुक्तम्[८] (५) छन्दः[९] (६) ज्योतिषम्[१०]। संस्कृतवाङ्मये वेदानां रक्षणार्थं षट्शास्त्राणि अङ्गभूतानि सन्ति। एतेषां प्रत्येकमाधारभूत-वैशिष्ट्यम् वर्तते। यद्यपि उक्तवेदांगविभाजनस्य क्रमविन्यासः प्रचीन एव वर्तते। तद्यथा-

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥[११]

सम्प्रति शिक्षा शब्दः ज्ञानस्यैव अपरं नाम। शिक्ष्यते अनया इति शिक्षा इत्यस्मिन् विग्रहे ज्ञानर्थकात् शिक्ष् धातोः निष्पन्नः शिक्षाशब्दः। एवमेव विद्या इति शब्दः 'शिक्ष उपादाने' इति धातोः निष्पन्नोस्ति। विद्याशब्दस्य अर्थः ज्ञानम्। 'विद्' ज्ञाने इति धातोः निष्पन्नमेतत्। विद्यतेऽनया, विदन्त्यनेनेति वा विद्या शब्दस्य व्युत्पत्तिः। ''स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारः शिक्ष्यते उपदिश्यते वा च यत्र सा शिक्षा'' । शिक्षाशास्त्रस्य प्रयोजनमुक्तमस्ति तैत्तिरीयोपनिषदि। तद्यथा- ''अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः- वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाऽध्यायः।''[१२] उपनिषदानुसारेण शिक्षाविषयस्याप्येतानि षडङ्गानि भवन्ति। संक्षेपेणात्र शिक्षाविषयाणां निरूपणं क्रियते। तथा- (१) वर्णः- वर्णस्याभिप्रायोऽक्षराणि भवन्ति। वेदतत्त्वस्य ज्ञानार्थं संस्कृतवर्णमालायाः ज्ञानं नितान्तमावश्वयकमस्ति। पाणिनीयशिक्षातः ज्ञानं भवति यत्संस्कृतवर्णमालायां ६३

अथवा ६४ वर्णाः निर्धारिता भवन्ति। तद्यथा-

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्चकम्पौ चापि परिश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥[१३]

(२) स्वरः- स्वरस्याभिप्रायः उदात्तस्वरितैः सहास्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन- ''उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः'' इति।[१४] (३) मात्रा- मात्रा शब्देनोच्चारणसापेक्षसमय एवास्ति। मात्रा त्रिधा भवति।[१५](४) बलम् - बलेन स्थानप्रयत्नोर्बोधो भवति। स्वरव्यञ्जनयोरुच्चारणकाले ताल्वादिस्थानस्य वायुना स्पशो भवति तदैव स्थानमिति। (५) साम[16] -सामशब्दस्यार्थो भवति-'साम्यम्' अर्थात् दोषरहितम्माधुर्यादिगुणयुक्तमुच्चारणम्। विपरीतस्याध मपाठकेषु परिगणितप्रकाराणां निर्देशोऽपि तत्रैव। यथा-

गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥[१७]

(६) सन्तानः- संतानशब्दस्यार्थो भवति संहिता, अर्थात्पदानामतिशयसन्निधिः। वस्तुतः पदानां स्वतन्त्रास्तित्वमस्ति। प्रत्येकं वेदस्य पृथक्-पृथक् प्रातिशाख्य-शिक्षा-ग्रन्थाः वर्तन्ते। यथा- शौनकस्य ऋक्प्रातिशाख्यं, कात्यायनस्य शुक्लयजुः प्रातिशाख्यं, सामवेदस्य पुष्पसूत्रम्, तैत्तिरीयप्रातिशाख्यं एवं अथर्व-प्रातिशाख्यादिः। प्रसिद्धेषु शिक्षाग्रन्थेषु - पाणिनीयशिक्षा (ऋग्वेदस्य), याज्ञवल्क्यशिक्षा (शुक्ल यजुर्वेदस्य)। तथा च व्यासशिक्षा, भारद्वाजशिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघनन्दिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका, केशवशिक्षा, मल्लशर्मशिक्षा, स्वराङ्कशिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, अवसाननिर्णयशिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणशिक्षा, प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा, नारदीय शिक्षा, गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, क्रमसन्धानशिक्षा, गलदृक्शिक्षा, मनःस्वारशिक्षा इत्यादिशिक्षाग्रन्थाः प्रकाशितास्सन्ति।

सम्प्रति वैदिककालीनशिक्षायाः प्रयोजनमासीत् पुरुषार्थ-चतुष्टयोपलब्धिः तथा अध्यापनस्य प्रयोजनं धर्मार्थ-शुश्रूषा-प्राप्तित्रयम्[१८] आसीत्। प्राचीनकाले आचार्यः[१९] केवलं धर्मार्थं शिष्यान् शिक्षयति स्म, आचारं ग्राहयति स्म, चरित्रनिर्माणं कारयति स्म, शास्त्र-रहस्यं समुद्घाटयति स्म, तथा तद्बुद्धिं विकासयति स्म। तैत्तिरीयोपनिषद् तु साक्षात् शिक्षाशास्त्रं वर्तते। अस्यामुपनिषद्यां विशेषरूपेण नैतिक-शिक्षात्मकम् उपदेशः विद्यते। अस्याः आवश्यकता मानवजीवनस्य लोककल्याणार्थम् अनिवार्यरूपेण आचरणीयम्। तद्यथा- (१) ऋतम् (२) सत्यम् (३) तपः (४) दमः (५) शमः (६) अग्नयः (७) अग्निहोत्रम् (नित्यनैमित्तिककर्मादि) (८) अतिथिसत्कारः (९) मानवता (१०) चरित्रनिर्माणम् (११) शान्तिशिक्षा (१२) सन्तानोत्पत्तिः (१३) स्वाध्यायशिक्षा (१४) आत्मानुशासनम् (१५) मातृपितृवन्दनम् (१६) आचार्यवन्दनम् (१७) अध्यापनम्। यदा शिक्षार्थिनः शिक्षां समाप्य समाजे प्रविशन्ति तदा समापवर्त्तनसमारोहे विशेषरूपेण सारगर्भिता नैतिकशिक्षा दीयते। तद्यथा- ओं वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठा। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।। अर्थात् हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! मम वाणी मनसि स्थितं भवेत्, मनः वाण्यां स्थितं भवेत्।

निष्कर्षः- सम्प्रति वेदाङ्गानाम् अध्ययनाध्यापनार्थं शास्त्रोक्तसदाचारशिक्षाः विशदरूपेण वर्तते। वैदिक-ऋषिणामनुसारं-व्यक्तित्वस्य सर्वाङ्गीण-विकासमेव शिक्षायाः प्रमुखं लक्ष्यम्। व्यक्तित्वस्य विकासाय तत्सम्बन्धितत्त्वानुशीलनम्, उपदेशश्रवणम्, गुरुजनानां वैदिकमन्त्रैः शुभाशंसा चावश्वयमेव प्रभावोत्पादिका

भारतीयानां धारणा। यजुर्वेदे आचार्यः शिष्याय सम्बोध यति यत् - **वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रौत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्ध ामि, मेढ्रं ते शुन्धामि, पायुं ते शुन्धामि, चरित्रांस्ते शुन्धामि।**[20] वेदाङ्गेषु सदाचारः, शुचिता, धैर्यम्, क्षमाशीलता, इन्द्रियनिग्रहः, सत्यवादिता, परोपकारभावना, नैतिकता, अभिवादनशीलता, मातृपितृगुरुशुश्रूषा, अतिथिसत्कारः, ब्रह्मचर्यपालनम्, वेदाध्ययनम्, इत्यादिभिः शिक्षा वर्त्तमाने काले प्रासङ्गिकम् वर्तते।

सन्दर्भसूचीः-

१. पाणिनीयशिक्षा ४१-४२
२. ''विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्त एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः।'' ऋक्प्रातिशाख्ये -श्रीविष्णुमित्रः
३. महाभाष्य आह्नि०१
४. मुण्डकोपनिषद् . १/१/४-५ , द्वे ब्राह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।। - मैत्रायणी उपनिषद् ६/१२
५. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।
- ईशावास्योपनिषद् ११
६. ''वेदविहितानां कर्मणाम् आनुपूर्व्येण कल्पकं शास्त्रं कल्पः'',''कल्प्यन्ते समर्थ्यन्ते यज्ञ-यागादिप्रयोगः यत्र इति कल्पः''। - ऋग्वेदभाष्यभूमिका
७. ''व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'', चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।- ऋग्वेदः
८. ''निरुच्यते निःशेषेण उपविश्यते निर्वचनविधया तत्तदर्थबोध नाय पदजातं तन्निरुक्तम्'' अथवा ''अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्''।
९. ''छादयति आवृणोति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्दः'', ''यदेभिरात्मानम् आच्छादयन् देवा मृत्योर्विभ्यतस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्'' इति। - श्रीदुर्गाचार्यः
१०. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः। तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।। - आर्षज्योतिषम् ३६
११. पाणिनीयशिक्षा ४१
१२. तैत्तिरीयोपनिषद् १/२
१३. पाणिनीयशिक्षा ३-४-५
१४. याज्ञवल्क्यशिक्षा १
१५. एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमात्रास्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनञ्चार्धमात्रिकम्।। - १६. याज्ञवल्क्यशिक्षा १६
१७. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः । धैर्य लयसमर्थञ्च षडेते पाठकाः गुणाः।। - याज्ञवल्क्यशिक्षा ८७
१८. याज्ञवल्क्यशिक्षा (उत्तरार्द्धः) ८६ , शंङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्। काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथास्थानविवर्जितम्।। विस्वरं विरसञ्चैव विश्लिष्टं विषमाहतम्। व्याकुलं तालहीनञ्च पाठदोषश्चतुर्दश।।-याज्ञ० शिक्षा २८-२९
१९. अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थं चार्थकारणात्। शुश्रुषाकरणं चेति ऋषिभिः परिकीर्तितम्।। - हारीतस्मृतिः
२०. आचार्यः आचारं ग्राहयति। आचिनेति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा। आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते।। -निरुक्ते
१९. यजुर्वेदः ६/१४

- शिक्षाशास्त्रविभागः,
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
नवदेहली-१६

सदाऽध्येया सर्वैर्निगमसदृशी पाणिनिमुने-
रहो! अष्टाध्यायी झटिति पदबोधप्रणयिनी।
सुपूर्णा वैज्ञानी ध्रुवमतिशयाऽऽह्लादजननी,
स्वयं स्वार्थं ब्रूते क्रमनियमपाठेन सुगमा।।

वेदाङ्गानां प्रासङ्गिकता

❑ निखिलार्यः, शोधच्छात्रः...✍

वैदिकसाहित्यं समुद्रवदगाधमपारं ससारञ्चास्ति। आश्रयाः सर्वविद्यानाम्, आकराः सर्वशास्त्राणां वै वेदाः। वेदज्ञाननौकयैव तरन्ति दुस्तरं संसारचक्रं संसारिणः। शुचिभिराचारपूतैस्सुधीभिः परमप्रमाणत्वेन स्वीक्रियन्ते जोघुष्यन्ते च वेदाः।[१] भगवती श्रुतिरादिकालादेव मधुराभिः पावनाभिरविरलज्ञान-धाराभिरासिञ्चति सकलसुधीजनानां क्लान्तं म्लानं ज्ञानोपवनम्। सकलानां विद्यानां विज्ञानानां कलानाञ्च प्रकर्षपर्यन्ता वेदाः। प्रवदन्त्येवं विपश्चिता यत्- **देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।** पुराकाले गेहे-गेहे, वीथीषु-वीथीषु, आशासु सर्वासु च सर्वस्मिन् काल अश्रूयन्त वेदमन्त्राः। किन्तु साम्प्रतं न सावस्था वेदानाम्। अनुदिनं क्षीयते गौरवं गौरवभूतानां गुरूणां वेदानाम्। अत एव वेदानां संरक्षणं सम्बर्धनं समुपबृंहणं च समेषां सुधीजनानां भवतु परमकर्त्तव्यम्।

श्रुतिसंरक्षणाय वेदाङ्गानामध्ययनं नितरामावश्यकम्। वेदाङ्गानां परिज्ञानं विना अपूर्णो वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः। यथा मानवः स्वमुखाद्यङ्गैः परिचीयते तथैव वेदानां सम्यग् ज्ञानमपि तस्य अङ्गैरेव भवति। 'अङ्ग'शब्दस्य व्युत्पत्तिजन्योऽर्थो भवति 'उपकारकः' इति, **अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि।** अर्थात् येन कस्यापि वस्तुनः स्वरूपज्ञाने साहाय्यं प्राप्यते तद् अङ्गम्। वेदानामर्थज्ञाने तत्र प्रतिपादित-कर्मकाण्डस्य सम्पादने उपकारकाणि यानि शास्त्राणि ऋषिभिः प्रणीतानि तानि वेदाङ्गानि कथ्यन्ते। मुण्डकोपनिषद् प्रतिपादयति यत् **परा अपरा नाम्ना द्वे विद्ये भवतः। तत्राक्षरब्रह्मणोबोधिका परा विद्या। अपराविद्या च वेदवेदाङ्गम्। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति।**

मानवजीवनस्य परमं लक्ष्यं धर्मार्थकाममोक्षाख्य-पुरुषार्थचतुष्टयस्य प्राप्तिः। पुरुषार्थचतुष्टयस्य प्राप्तिः वेदान् वेदांगानि च विना नास्ति सम्भवा। तदर्थमेव महर्षिणा पतञ्जलिना वेदवेदाङ्गानामध्ययनमनिवार्यकर्तव्यत्वेन निर्दिष्टम्-**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।**[२]

वेदानाम् अर्थज्ञानाय, स्वरविज्ञानाय, यथाविधि यज्ञविधेः सम्पादनाय, शब्दस्य विपुलस्वरूपज्ञानाय, पदानां निर्वचनज्ञानाय, छन्दोमीमांसायै, कर्त्तव्यबोधाय, लौकिव्यवहारज्ञानाय, कर्मसम्पादनाय, तिथिनक्षत्रमासादीनां सम्यग् ज्ञानाय षडङ्गा नितरामुपकारकाः। वेदाङ्गान् अतिरिच्य सार्थं वेदाध्ययनं नास्ति सम्भवम्। पाणिनीयशिक्षायामपि सुष्ठुतया प्रतिपादितं यत् साङ्गं वेदमधीत्यैव मानवो महीयते ब्रह्मलोके-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्यौतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥[३]

पादहीनो मनुष्यो यथा गतिकरणे क्लिष्टतामनुभवति तथैव छन्दसामध्ययनं विना वेदार्थावबोधनं गतिशून्यम्। अत एव छन्दःशास्त्रं वेदपुरुषस्य पादाभ्यामुपमीयते। किन्नाम छन्दः? छन्दःपदं व्याख्यायन्नाचार्यः कात्यायनः प्राह- **यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।** ऋक्सर्वा २/६ आचार्ययास्कोऽपि छन्दःपदस्य निर्वचनं व्यदधन् लिखति- **छन्दांसि छादनात्।** अक्षरसंख्यामात्रापादव्यवस्थाज्ञानं वेदज्ञानायोपकारकमेव। अक्षरसंख्यादिसाध्यैश्छन्दोभिरनुष्ठेया बहवो विधयः श्रूयन्ते ब्राह्मणे। तद्यथा- **गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्।** तै0ब्रा0 1/1/9/6 छन्छःशास्त्रस्य ज्ञानं विना विधय एते न शक्यन्ते विधातुम्। आर्षेयब्राह्मणानुसारं छन्दोविदेव लोके प्रशस्यो भवति। **यो ह वा अविदितछन्दोदैवते...।** छन्दशास्त्रस्य प्राचीनं नाम छन्दोविचितिः, छन्दोऽनुशासनम्, छन्दोविवृत्तिः, छन्दोमानं चेत्यपि विद्यते।

धर्मप्रधाना संस्कृतिरस्माकम्। देवयजनेयं भूमिः। यागप्रधानोऽर्यावर्त्तः। यज्ञः सकलजगतो नाभिभूतः। अत एव अधिगतपरमार्था, विदितवेदितव्या आचारपूता अर्चनीयाचाराः क्रतुक्रियाकाण्डशौण्डाः श्रेयस्कामा ऋषयो लोककल्याणाय सर्वभूतहितायानवरतमयजन्।[४]

विविधास्तत्र यागाः। केचन यज्ञाः संवत्सरसम्बन्धिनः। केचन क्रतुसम्बन्धिनो यज्ञाः। केचन ऋतुसम्बन्धिनो यज्ञाः। केचन तिथि-मास-पक्ष-नक्षत्रसम्बन्धिनो यज्ञाः। ज्यौतिषशास्त्रस्य ज्ञानाभावे यागानां यथाविधि यजनं दुष्करम्।

एके शास्त्रकारा एवमपि प्रतिपादयन्ति यत् यो ज्योतिषं संजानाति स यज्ञमपि संजानाति।[६]

वेदे सर्वैः लिङ्गैः सर्वाभिः विभक्तिभिश्च न मन्त्राः पठिताः। तेषां मन्त्राणां लिङ्गविभक्ती यक्त्रा देवतानुसारं कर्त्तव्ये। अवैयाकरणास्तेषां मन्त्राणां विपरिणामे न समर्थः। शब्दानां यथार्थं व्यक्तं सुस्पष्टमवितथमुच्चारणं शिक्षयति शिक्षा। शिक्षापदं व्याख्ययन् आचार्यसायणः लिखति- **स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षेति।**[७]

शिक्षाशास्त्रप्रयोजनमुक्तं तैत्तिरीयोपनिषदारम्भे-**अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः- वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।** (तै० १/२) तत्र वर्णोऽकारादिः, स्वरोदात्तादिः, मात्रा ह्रस्वादिः, बलं स्थानप्रयत्नौ, साम निषादादिः, सन्तानो विकर्षणादिः। एतेषां सम्यगवबोधनमेव शिक्षायाः प्रयोजनम्। उच्चारणकर्तुः गुणा दोषाश्च पाणिनीयशिक्षायां परिगणिताः। गुणास्तावत्-

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः॥ पा0शि0 ३३

दोषाः-

गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥पा0शि0 ३२
शंकितं भीतमुत्कृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम्॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं प्रस्तपदाक्षरश्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥

- पा0शि0३४/३५

कल्पसूत्राणां वैदिकवाङ्मये महत्त्वपूर्णं स्थानम्। वैदिककर्मकाण्डस्य यज्ञयागादीनां वा यथाविध्यनुष्ठानमपि वेदानां प्रयोजनम्। वेदप्रतिपादितानां यागादीनां कर्मणां क्रमपूर्वकं व्यवस्थितविवेचनं कल्पितं कल्पशास्त्रे-**कल्पो नाम वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।**

मुख्यतश्चतुर्विधानि कल्पसूत्राणि- श्रौतसूत्रम्, गृह्यसूत्रम्, धर्मसूत्रम्, शुल्वसूत्रञ्चेति। ब्राह्मणग्रन्थेषु वर्णितानां श्रौतयागानां सुस्पष्टं, सरलं, सुव्यवस्थितञ्च विवेचनं श्रौतसूत्रेषु। षोडशसंस्काराणां विस्तृतं विशिष्टं विवेचनं गृह्यसूत्रेषु। त्रैवर्णिकैरवश्यं कर्तव्यानां अनुष्ठानाचारयागानां वर्णनमपि विद्यते गृह्यसूत्रेषु। धार्मिकनियमाः, वर्णानामाश्रमाणाञ्च कर्तव्या व्यवहारा निर्दिष्टा धर्मसूत्रेषु। देवयजना भूमिरियम्। वेदनिर्माणविधिं विशेषतः बोधयति शुल्वसूत्रम्। शुल्वसूत्रमेव भारतीयज्यामितिशास्त्रस्य प्रवर्तकम्।

एवं सुस्पष्टं यत् यागानां विधिनिरूपणम्, वेदिनिर्माणम्, आचारनियमाः, संस्कारा, वर्णानामाश्रमाणाञ्च आचाराः प्रतिपादिताः कल्पसूत्रेषु। समाजे सुव्यवस्थां, सरसतां, समृद्धिं जनयति कल्पसूत्रम्।

व्याकरणम् -

व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।
तद्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

- महा.-१/२३२/३०

अखिल-ज्ञान-विज्ञाननिधयो वेदाः। वेदालोकेनैव आलोकन्ते सकलविद्याः। विदितवेदितव्या वेदेनैव विदन्ति वेदितव्यम्। सकलधर्ममूलभूतस्य परब्रह्मणो निःश्वायितस्य वेदस्यैव प्राधान्यं सकलसाहित्ये।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

इति मनुवचनेन[८] च वेदाध्ययनस्य अनिवार्यता आदिश्यते। सार्थं वेदमधीत्यैव अर्चनीयाचाराश्शुचयोऽनूचाना आचार्या महीयन्ते ब्रह्मलोके। अर्थज्ञानस्य महत्तां ख्यापयन् ब्रवीति निरुक्तकारः- **स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं यो न विजानात्यर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥**[९]

अर्थादर्थज्ञानादृते योऽधीते वेदं स तु भारहरः स्थाणुरेव। वेदस्यार्थं विदन् यस्तमधीते सः शङ्करान् सकलान् पदार्थान् विन्दते, ज्ञानेन नष्टकल्मषः स्वर्गमधिगच्छति च।

एवं सुव्यक्तं यद्यावच्छ्रुतयः स्थास्यन्ति लोके, श्रुतिप्रतिपत्यर्थं वेदाङ्गावगमोऽपरिहार्यः। यावत्कालं वेदानां प्रासंगिकता लोके तावत्कालं वेदांगानामपि प्रासंगिकता लोके भविष्यत्येव।

सन्दर्भ-सूची :-

१. मनु0 २/१३	२. महाभा.पस्प.
३. पा0शि0४१-४२	४. महाभा.पस्प.
५. वसन्ते ब्राह्म	६. आर्चज्यौतिषम् ३९
७. ऋग्वेदभाष्यभूमिका	८. मनु.स्मृ.२/१६८
९. निरु.१/१८	

-संस्कृतविभागः,
दिल्लीविश्वविद्यालयः, नवदेहली

वर्तमान समय में वेदाङ्गों की प्रासंगिकता

❑ ज्योत्सना, शोधच्छात्रा...✍

वैदिक साहित्य अत्यंत विशाल एवं कठिन था और इसे समझना सामान्य बुद्धि से परे था, अत: आगे चलकर वेद के अर्थ को सरलता से समझने तथा वैदिक कर्मकांडों जैसे यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ भेद से विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनों में, विविधताएं भर जाती थी, इन अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन और गायन में होने वाली विविधताओं में व्यवस्था लाने के लिए एक नवीन साहित्य की रचना हुई जिसे 'वेदाङ्ग' कहा जाता है।

इसकी संख्या छ: है जिनका ज्ञान वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए आवश्यक है-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष।

शिक्षा- सायण के अनुसार 'जो स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण के प्रकार का उपदेश देती है, अर्थात् वर्णों के उच्चारण की विधि तथा वर्णों के स्थान, प्रयत्न, करण का ज्ञान करना 'शिक्षा' नामक विद्या है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक मंत्रों के शुद्ध-शुद्ध उच्चारण तथा शुद्ध स्वर-क्रिया की विधियों के ज्ञान के निमित्त जो साहित्य लिखा गया उसे शिक्षा कहा जाता है। इसे वेद रूपी पुरुष की 'नाक' कहा गया है। प्राचीन युग में वेद मंत्रों के शुद्ध उच्चारण तथा स्वरों के ज्ञान का बड़ा महत्व था। पाणिनीय शिक्षा में वर्णित है कि 'स्वर' अथवा 'वर्ण' से हीन मंत्र मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण सही अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता।

वैदिक शिक्षा संबंधी प्राचीनतम साहित्य प्रतिशाख्य है। बाद में इसी आधार पर यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य शिक्षा, सामवेद की शिक्षा नारद शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा आदि कई ग्रंथों की रचना की गई ।

कल्प- वेदों में जो यज्ञादि कर्मकांड के विधायक मंत्र हैं उनकी व्याख्या और अनुष्ठान विधि का ज्ञान कराने वाले ग्रंथ कल्प ग्रंथ कहलाते हैं। उनमें वर्णित विद्या कल्प विद्या है। वैदिक यज्ञो की व्यवस्था तथा गृहस्थाश्रम के लिए उपयोगी कर्मों के प्रतिपादन करने हेतु 'कल्प' नामक वेदांग का प्रणयन हुआ है। छोटे- छोटे वाक्यों में सूत्र बनाकर सभी महत्वपूर्ण विधि-विधानों को प्रस्तुत किया गया। सूत्र- ग्रंथों को ही कल्प कहा जाता है। इनकी रचना वैदिक साहित्य के अत्यंत विस्तृत हो जाने के कारण यज्ञीय नियमों को व्यवहारिक उपयोग के लिए संक्षिप्त बनाने के उद्देश्य से की गई है।

कल्पसूत्र मुख्यता चार प्रकार के हैं श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्ब सूत्र।

श्रौतसूत्र- श्रौतसूत्र से तात्पर्य श्रुति अथवा वेदों से संबंधित यज्ञ भाग है। वेदों में वर्णित यज्ञ-भागों का क्रमबद्ध विवरण हमें श्रौत सूत्रों में मिलता है इनके अध्ययन से हमें उस काल की धार्मिक रूढ़ियों एवं परंपराओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

चारों वेदों से संबंधित अलग-अलग श्रौत सूत्र है। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र है- आश्वलायन तथा शाखायन, यजुर्वेद के कात्यायन, आपस्तंब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव तथा वैखानस सामवेद के लाट्यायन, आर्षेय और अर्थवेद से संबंधित श्रौत सूत्र वैतान है।

गृह्यसूत्र - इनमें गृहस्थ आश्रम से संबंधित धार्मिक तथा कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। गृहस्थ आश्रम के संस्कारों, यज्ञों आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन इसमें प्राप्त होता है। कौशिक गृह्य सूत्र में चिकित्सा तथा दैवी आपदाओं के निवारण के लिए मंत्र दिए गए हैं। गृह्य सूत्रों के अध्ययन से प्राचीन भारत के ग्रहस्थ जीवन के विषय में अच्छी जानकारी मिलती है।

प्रमुख गृह्य सूत्रों के नाम है- शाखायन, आश्वलायन, बौधायन, आपस्तंब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, पारस्कर, गोभिल, खादिर तथा कौशिक गृह्य सूत्र।

धर्मसूत्र - इनमें सामाजिक नियमों तथा आचार- विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। वर्ण धर्म, राजा के कर्तव्य, प्रजा के साथ संबंध, प्रायश्चित्त विधान, न्यायालयों की व्यवस्था, कराधान नियोग के नियम, गृहस्थ के नित्य नैमित्तिक कर्तव्यों आदि का सम्यक विवरण धर्म सूत्रों में प्राप्त होता है।

प्रमुख धर्म सूत्र वशिष्ठ, मानव आपस्तंब, बौधायन, गौतम धर्मसूत्र आदि हैं । इन्हीं से आगे चलकर स्मृति ग्रंथों का विकास हुआ है। शुल्ब सूत्र 'सुलु' का अर्थ नापने की डोरी होता है। इनमें यज्ञीय वेदियों को नापने, उनके स्थान-चयन तथा निर्माण आदि का वर्णन है। यह आर्यों के ज्यामिति-ज्ञान के परिचायक है।

सामान्यता सूत्रों का समय ईसा पूर्व ६०० से लेकर ३०० तक माना गया है।

व्याकरण- भाषा-सम्बन्धी शुद्धि-अशुद्धि, नियम और संरचना आदि का पूर्ण ज्ञान कराने वाली विद्या 'व्याकरण विद्या' है । इसके बिना भाषा में प्रवीणता नहीं आती। शब्दों की मीमांसा करने वाले शास्त्र को व्याकरण कहां गया है । इसका संबंध भाषा- सम्बन्धी समस्त नियमों से है । इसे वेद रूपी पुरुष का मुख बताया गया है । प्राचीन शास्त्रों में व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया। वैदिक साहित्य की रक्षा नए पदों की कल्पना, साहित्य का सरलतापूर्वक अध्ययन, वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न संदेहों कि निवारण आदि की दृष्टि से व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

व्याकरण की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रमुख रचना महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी है। इसमें आठ अध्याय तथा लगभग ४०० सूत्र हैं। यह संस्कृत का अत्यन्त वैज्ञानिक ग्रंथ है जिसकी जोड़ का दूसरा ग्रंथ संसार की किसी भाषा में नहीं है। पाणिनि का समय ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी का है। इसके पश्चात् ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में कात्यायन ने संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले नए शब्दों की व्याख्या करने के लिए 'वार्त्तिक' लिखें। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पतंजलि ने पाणिनीय सूत्रों पर 'महाभाष्य' लिखा है। इन तीनों वैयाकरणो के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इसके बाद ७ वीं शती मैं जयादित्य और वामन द्वारा अष्टाध्यायी पर 'काशिका' नामक टीका लिखी गई। शिक्षा, छंद, निरुक्त और व्याकरण, असल में यहीं चार वेदांग हैं, जिसका संबंध वेद के भाष्य-विषयक विज्ञान से है।

छंद- गेय वैदिक तथा लौकिक छंदों का परिचय, ज्ञान एवं रचना विधि का शिक्षण देने वाली विद्या 'छंदोविद्या' है। वैदिक मंत्र अधिकांशतः छंदों में बद्ध है। अतः उनके ठीक ढंग से उच्चारण तथा पाठ के लिए छंदों का ज्ञान आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा में छंदों को वेदों का पैर बताया गया है। छंद के आधार बिना वेद चलने में असमर्थ हैं।

प्रधान छंदों के नाम संहिताओं तथा ब्राह्मणों में मिलते हैं छन्दशास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथ पिंगल मुनि का 'छन्द सूत्र' है इसमें वैदिक तथा लौकिक दोनों ही छंदों का विवेचन किया गया है।

निरुक्त- वेद के कठिन शब्दों का संकलन 'निघण्टु' नामक ग्रंथ में हुआ है। इन्हीं की व्याख्या करने के लिए यास्क ने 'निरुक्त' की रचना की थी। इसमें कुल मिलाकर १४ अध्याय है। इसमें वैदिक शब्दों की उत्पत्ति दी गई है। वेद के अर्थ को जानने के लिए निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है। वैदिक शब्दों की व्याख्या के साथ ही निरुक्त में व्याकरण, भाषा, विज्ञान, साहित्य, इतिहास आदि से संबंधित कुछ विवरण भी प्राप्त होते हैं। यास्क ने ही पहले पहल यह घोषणा की की शब्द धातुओं से निकले हैं।

ज्योतिष - यज्ञों से अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिए आवश्यक था कि उनका अनुष्ठान शुभ समय तथा मुहूर्त में किया जाए। ग्रहों तथा नक्षत्रों की स्थिति का अध्ययन करके समय ज्ञात किया जाता था। इस अध्ययन में

ज्योतिष नामक वेदांग को जन्म दिया । ज्योतिष की सर्व प्राचीन रचना मगधमुनिकृत 'वेदाङ्ग ज्योतिष' है इसमें कुल ४४ श्लोक हैं। इसमें कहा गया है कि जो ज्योतिष को जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। वेदाङ्ग ज्योतिष के दो ग्रंथ हैं जो ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से संबंधित हैं। इन्हें क्रमशः आचार्य ज्योतिष तथा याजुष ज्योतिष कहा जाता है। कालांतर में इन पर कई भाष्य लिखे गए हैं वेदांग ज्योतिष ही भारतीय ज्योतिषशास्त्र का मूलाधार है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन को सुगम तथा सुबोध बनाने की दृष्टि से ही वेदांग साहित्य की रचना हुई ऐसा अनुमान होता है कि सृष्टि के प्रारंभिक काल में मानवी मेधा अत्यंत विकसित स्थिति मे थी अतः वेद मंत्रों में निहित गूढ़ अर्थ को समझना भी विमल प्रज्ञा के धनी ऋषि समुदाय के लिए कठिन नहीं था, किंतु ज्यों-ज्यों मनुष्य की बौद्धिक शक्तियों का ह्रास होने लगा वेद गत भाव समूह एवं विचार-समूह हमारे लिए अधिकाधिक दुर्ज्ञेय और दुर्बोध होने लगे। अब यह आवश्यक समझ में आ गया कि वेद मंत्रों के सम्यक् उच्चारण एवं पाठ की विधिवत् शिक्षा दी जाए साथ ही वेदार्थ ज्ञान में सहायक शास्त्रों की रचना हुई जिन्हें वेदांग कहा जाता है।

वेद समस्त ज्ञानराशि के अक्षय भंडार है। तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति सभ्यता एवं धर्म के आधारभूत स्तंभ है। वेद धर्म, अर्थ, काम मोक्ष-इन चार पुरुषार्थ के प्रतिपादक हैं। वेद भी अपने अंगों के कारण ही ख्यातिप्राप्त है अतः वेदांगों का अत्यधिक महत्व है ।

संदर्भग्रंथः-

१. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव, प्रकाशक यूनाइटेड बुक डिपो, २१ यूनिवर्सिटी इलाहाबाद- २११००२

२. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह 'दिनकर', लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद -२११००१

३. महर्षि दयानंद वर्णित शिक्षा पद्धति, डॉ. सुरेंद्र कुमार, प्रकाशक वैदिक अनुसंधान सदन रोहिणी, दिल्ली

४. वेदांग विकिपीडिया।

- शोधच्छात्रा,
इतिहास-विभाग,
एस. आर. टी. कैम्पस,
बादशाही थौलॉ, नई टिहरी,
गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥

-संस्कृतनिबन्धशतकम्, डॉ. कपिलदेवद्विवेदी, पृ.-५

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्,
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

- पा० शिक्षा ४१.४२

वर्त्तमानसमये वेदाङ्गानामुपादेयता

❑ रमनदीपः...✍

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥[१]

वेदाङ्गानि वैदिकवाङ्गमयस्यान्तिमभागाः सन्ति। वेदाङ्गविधा अतिप्राचीना अस्ति। यतः यास्केन निरुक्तस्यारम्भे लिखितमस्ति यदतिप्राचीनकाले वेदैः सह वेदाङ्गानामपि प्रणयनं कृतवन्तः। वेदाङ्गार्थः – वेदाङ्गशब्दस्यार्थः अस्ति – वेदानाम् अङ्गानि इति वेदाङ्गानि। वस्तुतः कस्यापि वस्तुनः बोधो तस्याङ्गैः भवति। अतः वेदानां वास्तविकार्थज्ञानाय यानि साधनान्युपेक्षन्ते तानि वेदाङ्गान्येव। वेदाङ्गानां रचनासमयः वैदिकवाङ्गमयस्योत्तरवर्तिकालः मन्यते। अधिकांशवेदाङ्गग्रन्थानां रचना १५०० खिष्टाब्दात् पूर्वतः ५०० खिष्टाब्दात् पर्यन्तमभवत्।

वेदाङ्गानां परिचयः – मुण्डकोपनिषदि अङ्गिराचार्येण शौनकमुनिं प्रति षड्वेदाङ्गानामभिधानानि सूचितान्यासन्। षड्वेदाङ्गानां सर्वप्रथममुल्लेखो मुण्डकोपनिषदि अभूत्। तत्रोक्तं यथा – द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा अपरा च। तत्रापरा विद्यायां चतुर्ण्णां वेदानामनन्तरं षड्वेदाङ्गानि गृह्यन्ते। पाणिनीयशिक्षायां वेदपुरुषस्य अङ्गरूपेण षड्वेदाङ्गान्येव निरूपितानि सन्ति। यथा –

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रौत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्,
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[२]

शिक्षावेदाङ्गस्य परिचयः – **'शिक्ष विद्योपादाने'** इति धातोः अप्रत्ययकृते तदनु टाप्–प्रत्ययकृते सति शिक्षाशब्दः निष्पद्यते। शिक्षायाः व्युत्पत्तिलभ्यार्थं कुर्वन्वेदभाष्यकार आचार्यः सायणः लिखति – **स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा**[३] अर्थात् येन वैदिकमन्त्राणामतिशुद्धोच्चारणं ज्ञायते सा शिक्षा। वेदाङ्गमिदं वेदस्य घ्राणम् (नासिका) इत्युक्तमस्ति – **शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।**

वेदानां प्राणभूतवेदाङ्गेषु शिक्षावेदाङ्ग-मन्यतमेव। प्रत्येकं वेदस्य पृथक्–पृथक् शिक्षाग्रन्थाः प्रातिशाख्यग्रन्थाः सन्ति। प्रातिशाख्य इति शब्दस्यार्थः–प्रतिशाखामधि त्य तं प्रातिशाख्यम्, प्रातिशाख्यग्रन्थेषु वर्णविचारस्य पदविचारस्य सन्धेः स्वरप्रक्रियायाश्च विचारः क्रियते। यथा–

ऋग्वेदस्य ऋक्प्रातिशाख्यं पाणिनीयशिक्षा च ।
पाणिनीयशिक्षा ऋक्प्रातिशाख्यमनुसरति॥

यजुर्वेदस्य वाजसनेयं प्रातिशाख्यं तैत्तिरीयप्रातिशाख्यं याज्ञवल्क्यशिक्षा वशिष्ठशिक्षा व्यासशिक्षा माण्डव्यशिक्षा भारद्वाजशिक्षा माध्यन्दिनी शिक्षा व्यासशिक्षा अवसाननिर्णयशिक्षा च सन्ति ।

सामवेदस्य नारदीयशिक्षा ऋक्तन्त्रशिक्षा
पुष्यसूत्रप्रातिशाख्यञ्च। अथर्ववेदस्य माण्डूकी
शिक्षा शौनकीयप्रातिशाख्यं
अथर्ववेदप्रातिशाख्यञ्च ।

शिक्षावेदाङ्गस्य निरूपणम् उपनिषत्कालादेव प्रारभ्यते । तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ल्यां शिक्षायाः षड् नामानि सन्ति। तत्र–**अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः**।[४] वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः। साम्प्रतमुपलब्धेषु शिक्षाग्रन्थेष्वस्ति पाणिनीयशिक्षा प्रमुखतमा। वेदमन्त्राणां सम्यगुच्चारणं कर्तुं स्वरज्ञानं नितान्तमावश्यकं भवति । एते त्रिधा–**उदात्तानुदात्तस्वरितभेदात्। उच्चैरुदात्तः**।[५] **नीचैरनुदात्तः**।[६] **समाहारः स्वरितः**[७]। वैदिकसाहित्ये स्वरप्रक्रियाया अत्यन्तं महत्वपूर्णं स्थानमस्ति। अस्य कारणमस्ति अर्थनियामकता। **'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व'** अस्य सुप्रसिद्धमुदाहरणमस्ति । आचार्यपाणिनिः स्वशिक्षाग्रन्थे षडाधमपाठकानां, षडोत्तमपाठकानाञ्च क्रमशः उल्लेखः कृतः –

(१) उत्तमपाठकाः - माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः॥[८]
(२) अधमपाठकाः -गीति शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः । अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥[९]

शिक्षावेदाङ्गस्योपादेयता - शिक्षाया अभिप्रायोऽस्ति स्वरवर्णानामुच्चारणस्य शिक्षणम् । पाणिनीय शिक्षायामुच्यते -

व्याघ्री यथा हरेन्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत् ॥[१०]

शिक्षानाम तच्छास्त्रं येन वेदमन्त्राणामुच्चारणं शुद्धं सम्पादयेत् । वेदे स्वरस्य प्राधान्यं वर्तते, स्वरज्ञानं च शिक्षाऽऽयत्तम् , अत एवेदं शिक्षाशास्त्रं वेदाङ्गम्। यथा वैदिकविधीनां सम्पादनार्थं ब्राह्मणग्रन्था उपयुज्यन्ते, तथैवोच्चारणप्रयोजनेन शिक्षाया उपयोगो वाञ्छ्यते । वेदानां वैदिकसाहित्यस्य वा अध्ययनाध्यापन-विषयकविधीनां निर्देशः शिक्षाशास्त्रे कृतः । शिक्षा स्वरवर्णाद्युच्चारणानि केन प्रकारेण कर्त्तव्यानीत्येतस्मिन् विषये उपदिशति। वेदपाठावसरे शुद्धमुच्चारणं स्वरक्रिया च काम्येते। अशुद्धोच्चारणयुक्तो भ्रष्टस्वरश्च वेदपाठो महद् दुष्फलं जनयति। यज्ञयागोपासनादिकं यत् कार्यमिष्टलाभाय क्रियते, तस्माद्विशिष्टलाभो न कदापि अशुद्धेनोच्चारणेन समवाप्तः सञ्जायते। तद्विधमशुद्धोच्चारणयुतं कार्य तु विपदां महतीम् उत्पादयति।

स्वहीना यथा वाणी वस्त्रहीनास्तु योषितः।
एवं वर्णाः न शोभन्ते प्राणहीनाः शरीरिणः।
वेदपाठी सदा सम्यक् विचार्य्यैव पुनः पठेत।[११]

श्रूयते यत् पुरा 'इन्द्रशत्रुर्वधस्व' इत्यस्य मन्त्रस्य अशुद्धोच्चारणं समभवत्, तेन यजमानम्प्रति तदनिष्टकारकमसिद्धयत् । यथा -

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥[१२]

अपरञ्च-

अनक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम् ।
अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके ॥[१३]

कल्पवेदाङ्गस्य परिचयः -

कल्पः वेदानां द्वितीयमङ्गमस्ति । ब्राह्मणकाले यागस्य तावान्प्रचारः जातः यत्तेषां यथावज्ज्ञानाय पूर्णपरिचयप्रदायकग्रन्थानाम् आवश्यकता अनुभूयते स्म, तामेव आवश्यकतां स्वल्पैः शब्दैः पूरयितुं कल्पसूत्राणि विरचितानि ।वेदविहितानां कर्माणां व्यवस्थापनं क्रमपूर्वकं कल्पशास्त्रे कल्पितम्। उक्तञ्च- '**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।**'[१४] अयं वेदाङ्गः वेदस्य हस्त इत्युक्तो भवति। हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

विष्णुमित्रस्य व्याख्यानुसारितया येषु ग्रन्थेषु वैदिककर्मणां साङ्गोपाङ्गं विवेचनं क्रियते, ते कल्पग्रन्था एव। तात्पर्यार्थोऽयमस्ति यत् वैदिकग्रन्थेषु यानि यज्ञयागाद्युपनयनविवाहादिकर्माणि प्रतिपादितानि सन्ति, तेषामेव क्रमशः विवरणपरकसूत्रग्रन्थाः इत्युच्यन्ते। यत एते सूत्ररूपेण लिखितान्यत एव सूत्रशास्त्राणि। चतुर्विधानि भवन्ति कल्पसूत्राणि। यथा-

श्रौतसूत्रम्-अस्मिन् प्रमुख-चातुर्मास्य- दशपौर्णमासादि-यज्ञानां वर्णनं प्राप्यते ।

गृह्यसूत्रम् - अस्मिन् पञ्चमहायज्ञानां षोडशसंस्काराणाञ्च वर्णनः प्राप्यते ।

धर्मसूत्रम् - अस्मिन् चतुर्णामाश्रमाणां मानवकर्तव्यानां राजकर्मणां वर्णनं प्राप्यते ।

शुल्बसूत्रम् - अस्मिन् यज्ञवेदीनिर्माणविधेः वर्णनं प्राप्यते। प्रत्येक वेदस्य पृथक्-पृथक् सूत्रशास्त्राणि सन्ति,यथा -

ऋग्वेदस्य कल्पसूत्रम् -

आश्वलायनं, शाङ्ख्यायनञ्चेति। अनयोरुभयोरपि कल्पसूत्रयोः श्रौतसूत्रं गृह्यसूत्रञ्च सम्मिलितञ्च विद्यते । वशिष्ठञ्च धर्मसूत्रं विद्यते ।

शुक्लयजुर्वेदस्य कल्पसूत्रम्- कात्यायनश्रौतसूत्रम्, पारस्करगृह्यसूत्रम्, कात्यायनशुल्वसूत्रञ्चेति।

कृष्णयजुर्वेदस्य कल्पसूत्रम् - बौधायनसूत्रम्, आपस्तम्बसूत्रञ्चेति। अनयोः कल्पसूत्रयोः श्रौतगृह्यधर्मशुल्बसूत्राणि सर्वाण्यपि सन्तीति ग्रन्थाविमौ

पूर्णरूपौ।

सामवेदस्य कल्पसूत्रम् - लाट्यायनश्रौतसूत्रं, द्राह्यायणञ्चेति। जैमिनीयशाखाया: श्रौतसूत्रं जैमिनिगृह्यसूत्रं, गोभिलगृह्यसूत्रं, खादिरगृह्यसूत्रञ्चेति। सामवेदे एव आर्षेयकल्पस्यापि गणना भवति। अयमेव कल्पो मशककल्पसूत्रनाम्नापि प्रथते। सूत्रमिदं लाट्यायनश्रौतसूत्रात् प्राचीनं मन्यते।

अथर्ववेदस्य कल्पसूत्रम् - वैतानश्रौतसूत्रम्, कौशिकगृह्यसूत्रञ्चेति । वैतानसूत्रं नातिप्राचीनं, कौशिकसूत्रञ्च अभिचारक्रियावर्णनपरम्।

कल्पवेदाङ्गस्योपादेयता- वस्तुत: कल्पसूत्राणामपूर्व महत्त्वमस्ति। शास्त्रीयदृष्ट्या एते ग्रन्था ब्राह्मणानामारण्यकानां योजयितार: सन्ति । महायागानां विधिं संक्षेपेण सूत्ररूपेण सूचयितुमस्य ग्रन्थस्य महन्मूल्यमस्ति। सामाजिकदृष्ट्या अपि कल्पसूत्राणां महत्त्वं स्वीकरणीयमस्ति, यदेतेषां ज्ञानेनैव तात्कालिकी प्राचीनपरम्परामान्यतादि: ज्ञायते। धर्मसूत्रेण मानवीयमूल्यानां ज्ञानं भवति । कल्पसूत्राणां भाषा सरला सुगमा चास्ति।

व्याकरणवेदाङ्गस्य परिचय:- व्याकरणं वेदाङ्गानां तृतीयमङ्गमस्ति। व्याकरणं नाम वेदानां रक्षकत्वात् वेदार्थावबोधने सहायकत्वात् प्रकृति-प्रत्यय-उपदेश-पुरस्सरपदस्वरूप-प्रतिष्ठापकत्वाद् अर्थनिर्णय-साधनेषु अन्यतमसाधनत्वेन प्रयुक्ततत्वाद् वेदाङ्गस्य किञ्चनाङ्गम्। **व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।** इदं व्याकरणनाम् वेदाङ्गं पदवाक्यस्वरूपार्थनिर्णायकमस्ति। नामुं विना प्रकृतिप्रत्ययानां विश्लेषणं भवितुमर्हति । एतद्वेदपुरुषस्य मुखत्वेन स्मृतं **मुखं व्याकरणं स्मृतम्।** यथा पुरुषस्य शरीरावयवेषु मुखस्य महत्त्वपूर्ण स्थानमस्ति तथैव व्याकरणशास्त्रस्य शब्दार्थज्ञानाय शब्दसौन्दर्यामावश्यकता अस्ति। यथोच्यते - रक्षार्थं वेदानामध्ययेयं व्याकरणम् । प्राचीनग्रन्थेषु माहेश्वरादि षोडश वैयाकरणानाम् उल्लेखोऽभवत् । आचार्य: पाणिनि: स्वकीयग्रन्थे अष्टाध्याय्याम् आपिशलि-काश्यप-गार्ग्य-गालव-चाक्रवर्मण-भारद्वाज-शाकटायन-शाकल्य-स्फोटायन-गिरिसेनादि-दशनम् आचार्याणां वर्णनं अकरोत्। पाणिने: पूर्वम् ऐन्द्रव्याकरणस्य संकेता: प्राप्नुवन्ति । व्याकरणग्रन्थेषु मुख्यतया पाणिने: अष्टाध्यायी प्रमुखास्ति अनन्तरं कात्यायनस्य वार्तिकग्रन्थ: पतञ्जले: महाभाष्यञ्च। इतोऽन्येऽपि बहव: व्याकरणग्रन्था: सन्ति, यथा-भर्तृहरे: वाक्यपदीयम्, कैय्यटस्य भाष्यप्रदीप:, भट्टोजिदीक्षितस्य सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभ:-मनोरमा चेति, नागेशभट्टस्य परिभाषेन्दुशेखर: -शब्देन्दुशेखर: - लघुसिद्धान्तमञ्जूषा चेति।

व्याकरणवेदाङ्गस्योपादेयता - महर्षिपतञ्जलिना महाभाष्ये व्याकरणाध्ययनस्य पञ्च मुख्यानि त्रयोदश आनुषाङ्गिकप्रयोजनानि च स्वीकृतानि सन्ति । रक्षा-उह-आगम-लघु-असन्देहा एतानि व्याकरणाध्ययनस्य मुख्यप्रयोजनानि । यथा - रक्षार्थं वेदानामध्ययेयं व्याकरणम् । ऊह: खल्वपि, न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभि: वेदे मन्त्रा: निगदिता:, ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्या:, तान्नावैयाकरण: शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि पुरुष: सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यति। उक्तञ्च-ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इत्येतस्मादपि हेतो: व्याकरणस्याध्ययनं परमापेक्षितं भवति । संशयरहितनिमित्तेनापि व्याकरणमध्येयमस्ति । एतेन विवेचनेन व्याकरणस्योपादेयत्वं तन्महत्त्वञ्च समुपस्थापयन् आचार्यपतञ्जलि: तस्यान्यानि च कतिपयान्यावश्यकतां प्रस्तौति । स आह यद् व्याकरणं हि यो नरो न जानाति, स शुद्धमपि वक्तुं न शक्नोति। शुद्धोच्चारणलाभाय व्याकरणस्याध्ययनं कर्तव्यम् । यत: अशुद्धोच्चारणकर्ता शिक्षितसमाजे निन्दितो भवति। तस्मात् सततमुच्चारणस्य शुद्धता समुपासनीयेति। शब्दज्ञ एव समुदाचारस्य विधिं प्रयोक्तुमर्हति। एवम् अपभाषण-दुष्टशब्द-अर्थज्ञान-धर्मलाभ-नामकरणादीनि प्रयोजनानि व्याख्यातानि व्याकरणस्य।

निरुक्तवेदाङ्गस्य परिचयः-

निरुक्तं षट्सु वेदाङ्गेषु अन्यतमम् । वेदपुरुषस्य श्रौत्ररूपेण स्मर्यतेऽइदं वेदाङ्गः, निरुक्तं श्रौत्रमुच्यते। निघण्ट्वाख्यस्य वैदिककोषस्य भाष्यरूपमस्ति निरुक्ताख्यं वेदाङ्गम् । निघण्टौ तु केवलं वैदिकशब्दाः परिगणिताः सन्ति, परन्तु निरुक्तकारो यास्कः तेषां वैदिकशब्दानां सविस्तरं वर्णनं करोत्यर्थात् एतन्नामके ग्रन्थे वैदिकशब्दानामर्थज्ञानस्य प्रक्रिया वर्णितास्ति। निरुक्तशब्दं निरूपयन् सायणाचार्य ऋग्वेदभाष्यभूमिकायामाह- **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।** आचार्यविष्णुमित्रानुसारेण -

पदविभागमन्त्रार्थदेवतानिरुपणार्थं शास्त्रं निरुक्तम्'।[१५]

एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थाः यत्र निःशेषेणोच्यते तदपि निरुक्तम्। निरुक्तिशब्दस्यार्थो भवति व्युत्पत्तिः। निरुक्तस्य सर्वमान्यमतमिदमस्ति यत् प्रत्येकं शब्दः केनापि धातुना सहावश्यमेव सम्बद्धोऽस्ति। दुर्गाचार्यानुसारेण निरुक्तं चतुर्दशसङ्ख्यकमासीत्। यास्कस्योपलब्धे निरुक्ते द्वादशनिरुक्तकर्तॄणां नामानि मतानि च निर्दिष्टानि सन्ति। बहून्यासन् निरुक्तानीति ज्ञायते, यथा -बृहस्पतिः , काश्यपः, औपमन्यवः, औदुम्बरायणः, वार्ष्यायणिः, गार्ग्यः , आग्रायणः, शाकपूणिः, और्णवाभः, तैटीकिः, गालवः, स्थौलाष्ठीविः, क्रौष्टुकिः, कात्थक्यः, कौत्सव्यः, यास्क इत्यादयः सन्ति निरुक्तकाराः। इदानीमुपलभ्यते केवलं यास्कीयं निरुक्तम्।

निरुक्तवेदाङ्गस्योपादेयता - व्याकरणज्ञानस्य परिपूर्णता निरुक्तस्याध्ययनेनैव भवति । अतः व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं निरुक्तस्यैकं प्रयोजनम्। अस्य निरुक्तस्य किं प्रयोजनमिति उच्यते यास्केनैव। अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते । अस्य शास्त्रस्याध्ययनं विना वेदमन्त्राणामर्थज्ञानं न सम्भवति। यतो हि अस्मिन् शास्त्रे वैदिकशब्दानां विवरणं, शब्दार्थविज्ञानं चोपदिष्टम् । अपि च वेदार्थेनैव सफला वयं भवेमेति उच्यते निरुक्ते। मन्त्रार्थज्ञानस्य प्रयोजनञ्चोक्तम् -

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।,
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविविधूतपाप्मा॥[१६]

यो अर्थज्ञः स एव भद्रं प्राप्नोति नान्ये इति। निरुक्तप्रतिपादिताः विषया अधः स्थितेन श्लोकेनोपस्थाप्यन्ते-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ
वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन
योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

एवं निरुक्ताध्ययनं विना वर्णानामेतादृश्यवस्थाः न ज्ञातुं शक्यते। निरुक्तेनैव ज्ञायते यत् विद्या सुपात्राय प्रदातव्या। वस्तुतः निरुक्तं भाषाशास्त्रदृष्ट्या एकमनुपमं रत्नमस्ति।

छन्दोवेदाङ्गस्य परिचयः -छन्दो वेदस्य पञ्चमाङ्गम् अस्ति। वेदाः सन्ति छन्दोबद्धाः, अतः तेषामुच्चारणनिमित्ताय छन्दोज्ञानं नितरामपेक्षितम्। छन्दोभिधानेनैतेनाङ्गेन छन्दसा सर्वेषामुच्चारणस्य विधिः, तद्गतिप्रकारः, तद्गानरीतिश्च विदिता भवति। तस्माद्वैदिकमन्त्रोच्चारणप्रयोजनेन तदध्ययनं पूर्वमुचितम्। छन्दःशब्दः छद् इति धातुना निष्पन्नः। छन्दस आद्यः प्रवर्तकः आचार्यः पिङ्गलः। पद्यरचनायाः शास्त्रस्य छन्द इति नाम। श्रुतिगतिनिरूपकस्य छन्दसो गमनानुकूलतदङ्गत्वमुच्यते पाणिनीयशिक्षायां छन्दः पादौ तु वेदस्य इत्यनेन। 'छन्दः' इत्येतस्य पदस्य व्युत्पत्तिरियम् -छन्दयति (पृणाति) इति छन्दो वा छन्दयति (आह्लादयति) इति छन्दः अथवा छन्द्यतेऽनेनेति छन्दः। छन्दांसिच्छादनाद् इत्येतद् यास्ककथनाद् वेदार्थवाचकं छन्दः इत्येतत्पदं छद् (छादने) धातोर्निष्पन्नम्। वेदावरणकारित्वात् छन्द इत्यस्य पदस्य युक्ततां दुर्गाचार्यः आह -**'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः, तत् छन्दसां छन्दस्त्वम्'**।[१७] उक्तञ्च कात्यायनेन-**'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।'**[१८] अस्य वेदाङ्गस्य प्रतिनिधि-ग्रन्थः पिङ्गलाचार्यकृतं छन्दःसूत्रमस्ति। ग्रन्थोऽयम् अष्टाध्यायेषु विभक्तः सूत्ररूपेऽस्ति। प्रारम्भात् चतुर्थाऽध्यायस्य सप्तमसूत्रपर्यन्तं वैदिकच्छन्दसां लक्षणं प्रदत्तमस्ति। तदनन्तरं

लौकिकच्छन्दसां वर्णनमस्ति। अस्य ग्रन्थस्य हलायुधकृता मृतसञ्जीवनीव्याख्या प्रसिद्धाऽस्ति। प्रातिशाख्येषु, विशेषत ऋक्प्रातिशाख्यस्य षोडशपटले, अष्टादशपटले च छन्दसां विस्तृतं विवेचनमस्ति। वैदिकानि छन्दांसि अनेकभेदोपभेदयुक्तानि सन्ति । प्रधानेषु वैदिकेषु छन्दःसु इमानि गण्यन्ते-गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्तिः-त्रिष्टुप्-जगत्यादयः।

छन्दवेदाङ्गस्योपादेयता - विना छन्दोज्ञानं यो वेदाऽध्ययनयजनयाजनादिकार्याणि करोति, तस्य तानि सर्वाणि कार्याणि न भवन्ति फलदायकानि। स्पष्टतयकात्यायनेनोक्तम् - **यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वञ्छति ग....ये वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति।**[१९]

भरतमुनिः अपि छन्दोविरहितं शब्दं नैव स्वीकरोति-

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्[२०]

कात्यायनमुनेः नाम्ना प्रख्यातं ऋग्यजुष-परिशिष्टं पूर्वोक्तं तथ्यं स्वीकरोति -

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद् विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन॥

वेदस्य न कोऽपि एवंविधो मन्त्रोऽस्ति, यः छन्दसो माध्यमेन न निर्मितोऽस्ति । फलतो यजुर्वेदस्य मन्त्रोऽपि यो हि निश्चयेन गद्यात्मकोऽस्ति, छन्दोविरहितो नास्ति। ऋग्वेदस्य सामवेदस्य च सर्वे मन्त्राः छन्दोबद्धाः सन्ति। हृदयस्थकोमलभावानामभिव्यक्तेः नैसर्गिकमाध्यमं छन्द एवास्ति। अन्तःस्थस्य मर्मस्पर्शिनो भावस्य अभिव्यक्तीकरणाय कविगणाः छन्दसा कमनीयकलेवरम् एव अन्विष्यन्ति। मन्त्राणां छन्दोबद्धतया ज्ञानं विना वेदमन्त्राः साधु उच्चारयितुं न शक्यन्ते अतश्छन्दोऽपि वेदाङ्गत्वेन स्वीक्रियते। वैदिकच्छन्दसां प्रयोजनमाह आचार्य उव्वटः -

स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वृद्धिकरं शुभम्।
कीर्तिमृग्यं यशस्यञ्च छन्दसां ज्ञानमुच्यते॥

ज्योतिषवेदाङ्गस्य परिचयः- ज्योतिषशास्त्रस्योद्भवो विकासश्च वैदिककालादेव बभूव। वेदाङ्गनामेदं वेदानां चक्षुत्स्त्वेन स्वीक्रियते, ज्योतिषामयनं चक्षुः। वेदाङ्गभूतस्य ज्योतिषशास्त्रस्य साहित्यं विशदं व्यापकञ्चास्ति।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः। तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥[२१]

वेदानां ज्ञानाय ज्योतिषवेदाङ्गस्य महत्त्वं निर्विवादमस्ति । शुभमुहुर्ते यज्ञसम्पादनाय अस्यावश्यकता भवति। वैदिकयागेषु तिथि-नक्षत्र-पक्ष-मास-ऋतु-संवत्सरादीनां सूक्ष्मं विधानं भवति। ज्योतिषवेदाङ्गं कालविज्ञानस्य शास्त्रमस्ति। ज्योतिषशब्दस्यार्थोऽस्ति ज्योतिर्विज्ञानम्। सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि-आकाशीयदार्थानां गणना ज्योतिर्मयपदार्थेषु भवत्यतानेन सम्बन्धितं ज्ञानमपि ज्योतिर्विज्ञानं भवति। यतः नक्षत्रादीनां गतेरध्ययनं भवत्यस्मिन्नत इदं वेदाङ्गं ज्योतिषामयनं चक्षुरिति नाम्ना कथ्यते। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्रे कालविज्ञानस्य ज्योतिर्विज्ञानस्य चोभयोः समन्वयः प्राप्यते। चतुर्णामपि वेदानां पृथक् पृथग् ज्योतिषशास्त्रमासीत्, तेषु सामवेदस्य नोपलभ्यते। तद्यथा -

(१) ऋग्वेदस्य ज्योतिषम् -आर्चज्योतिषम्, षट्त्रिंशत्पद्यात्मकम्।

(२) यजुर्वेदस्य ज्योतिषम् -याजुषज्योतिषम्, ऊनचत्वारिंशत्पद्यात्मकम्।

(३) अथर्ववेदस्य ज्योतिषम् -आथर्वणज्योतिषम्, द्विषष्टि-उत्तरशतपद्यात्मकम्।

एतेषां त्रयाणामपि ज्योतिषाणां प्रणेता लगधो नाम आचार्यः । लगध-प्रणीतस्य वेदाङ्गज्योतिषग्रन्थस्य श्लोकानां रहस्यं किम् इत्येतद् वस्तुतो विद्वद्धौरेयाणामपि दुर्गमम् । तत्र याजुषज्योतिषस्य प्रामाणिकं भाष्यद्वयमपि प्राप्यते। प्रथमं तु सोमाकरविरचितं प्राचीनं, द्वितीयं सुधाकरद्विवेदीकृतं नवीनम् ।अस्य वेदाङ्गस्यानेके प्रकाण्डपाण्डित्यवन्तो भुवनविदिता आचार्या बभूवुः। तेषां नामानि वराहमिहिरः, आर्यभट्टः, ब्रह्मगुप्तः, लल्लाचार्यः,

उत्पलाचार्य:, श्रीपति:, भोजदेव:, भास्कराचार्य:, केशव:, गणेशदैवज्ञ:, ज्ञानराज:, कमलाकरश्च सन्ति। सर्वेऽप्येते आचार्या: ज्योति:शास्त्रविषयकान् उत्तमोत्तमान्ग्रन्थान् प्रणिन्यु: । एतस्य ज्योतिषशास्त्रस्य त्रीणि वर्त्मानि, तदिदं शास्त्रं त्रिस्कन्धमुच्यते। तदुक्तम् –

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिश्शास्त्रमनुत्तमम्॥

गणितशास्त्रं ज्योतिर्ग्रहशास्त्राद् व्यतिरिक्तं नास्ति। तस्याप्यन्तर्भाव: तत्रास्ति। अङ्कगणितं बीजगणितं चेत्येतद् द्वयमपि ग्रहविज्ञानस्य अङ्गत्वेन मतम्। आर्यभट्ट:, ब्रह्मगुप्त:, भास्कराचार्यश्च एते त्रयो विपश्चिद्वरा ग्रहतन्त्रस्य रचयितार: सन्ति। गणितस्य दशमलवपद्धति: ग्रहतन्त्रस्य अङ्गभूतैव विद्यते। गणितशास्त्रे गणिताध्ययनाय आर्यभट्टीयस्य द्वावपि ग्रन्थौ महत्त्ववन्तौ स्त:।

ज्योतिषवेदाङ्गस्योपादेयता–वेदाङ्गज्योतिषस्य सम्मत्यां ज्योतिषग्रन्थ: वेदाङ्गेषु मूर्धन्यस्थानीयोऽस्ति–

यथा शिखामयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥

यज्ञविधानाय ज्योतिषशास्त्रस्य आवश्यकता भास्कराचार्येण अपि स्वीकृता –

वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञा: प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण। शास्त्रादस्मात् कालबोधो यत: स्यात् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योत्तममस्मात्॥[२२]

यज्ञभागा: सन्ति बहुविधा: । केचन यज्ञा एवंविधा विधाने नीता ये संवत्सरसम्बन्धिन: सन्ति। केचन एताशा: सन्ति ये क्रतुसम्बन्धिनो वर्तन्ते। केचन च तिथि–मास–पक्ष–नक्षत्र–परका: सन्ति। भावोऽयं देवेषु यज्ञभागादीनां विधानं भिन्न–भिन्नकालेषु तमवाप्यते। तैत्तिरीयब्राह्मणे उल्लिखितम् –

वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। शरदि वैश्य आदधीत।[२३]

एतद्विधाया: वेदाज्ञाया: पालनं ज्योतिषशास्त्रज्ञाने सत्येव यथार्थ भवितुमर्हति। यज्ञस्य साफल्यं न केवलम् उचितविधानेऽस्ति प्रत्युत उचितसमयस्य नक्षत्रस्य अपि आवश्यकता वर्तते । ज्योतिषशास्त्रं यज्ञविधानस्य युक्ततरं कालं निर्दिशति, तस्मात् शास्त्रं तत्कालविधायकशास्त्रमित्येतेन च नाम्ना प्रख्यातं वर्त्तते। ज्योतिर्महिम्नि उक्तम् –

वेदस्य निर्मलं चक्षुः ज्योति:शास्त्रमकल्मषम्।
विनेतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्ध्यति।।

एवं दृश्यते यत् वेदाङ्गानाम् अस्माकं जीवने अपूर्वं महत्वमस्ति ।

सन्दर्भसूची :–

१. संस्कृतनिबन्धशतकम्, डॉ. कपिलदेवद्विवेदी, पृ.–५
२. पा० शिक्षा ४१.४२
३. सायणाचार्य:, ऋग्वेदभाष्यभूमिका
४. तैत्तिरीयोपनिषद्, द्वितीयोऽनुवाक:
५. अष्टा.–१/२/२९
६. अष्टा.–१/२/३०
७. अष्टा.–१/२/३१
८. पा० शि० ३३
९. पा० शि० ३२
१०. पा० शि० २५
११. अमोघनन्दिनीशिक्षा–१/२/१२६–१२७
१२. पा० शि० ५२
१३. पा० शि० ५३
१४. आचार्य: विष्णुमित्र:, ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्
१५. आचार्यविणुमित्र:, बाह्वृक्प्रातिशाख्यम्
१६. निरुक्तम्, यास्कभूमिका– १/६/१८
१७. दुर्गाचार्य: निरुक्तम्
१८. आचार्य: कात्यायन:, सर्वानुक्रमणी
१९. कात्यायन:, सर्वानुक्रमणी
२०. आचार्य: भरतमुनि:, नाट्यशास्त्रम्–१४/४५
२१. आचार्यज्योतिषम्–४
२२. भास्कराचार्य:, सिद्धान्तशिरोमणि:–१/१९
२३. तैत्तिरीयब्राह्मणम्–१/१

– प्राध्यापिका,
संस्कृतविभाग:,
चौ. देवीलालविश्वविद्यालय:, सिरसा,

गृह्यसूत्र का विश्लेषणात्मक महत्त्व एवं अध्ययनस्रोत

❑ वर्षा भाटी, शोधच्छात्रा...✍

ब्राह्मणकाल के आन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते है। इन ग्रन्थों की रचना भी बड़ी विलक्षण है। छोटे-छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थ के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञ-त्याग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि इसे याद करने के लिए ऐसे छोटे-छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वें वेद के अर्थ तथा विषय को समझाने के लिए नितान्त उपयोगी हैं। इसीलिए इन्हें वेद का अंग या वेदांग कहते है। जो संख्या में छः है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष[१] -

इन षडंगो की अपनी पृथक्-पृथक् महत्ता थी। वैदिक मन्त्रो के शुद्ध स्वर, वर्ण आदि के सही उच्चारण के लिए जिस शास्त्र की महत्ता थी, उसे शिक्षा-शास्त्र कहते है। शब्द के किस वर्ण या मात्रा पर किस तरह बल देना चाहिए इसको ध्यान में रखते हुए 'स्वर' को तीन भागों में विभक्त किया गया है- किसी भी शब्द के उच्च स्वर को 'उदात्त' धीमें स्वर को 'अनुदात्त' तथा मध्य स्वर को 'स्वरित' कहते हैं। इस प्रकार वेदमन्त्रों के सही उच्चारण के लिए 'शिक्षा' वेदांग की महत्ता थी। इस शास्त्र का प्रारम्भ बाभ्रव्य ऋषि द्वारा माना गया है। छन्दःशास्त्र में वैदिक छन्दों का निरूपण है। अधिकांश वैदिक रचनाएं छन्दों में हैं, उनका शुद्ध पाठ तभी सम्भव हो सकता है, जब छन्द का विधिवत् ज्ञान हो, मात्राओं और अक्षरों का ज्ञान हो। छन्द-सूत्र इसका महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ का निर्माण आचार्य पिंगल द्वारा माना जाता है।

वेदों के समुचित ज्ञान के लिए व्याकरण-शास्त्र की महत्ता थी। शब्द की रचना के ज्ञान के उद्देश्य से प्रकृति तथा प्रत्यय के ज्ञान के उद्देश्य से 'व्याकरण' वेदांग का अध्ययन अत्यन्त उपयोग का है। आधुनिक समय में उपलब्ध पाणिनीय अष्टाध्यायी इसका महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। निरुक्त-शास्त्र में शब्दों की निरूक्ति या व्युत्पत्ति की जाती है। इसके अनुसार प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध होते है। यास्काचार्य यस्क कृत निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

षड्वेदांगो में ज्योतिष का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ऋषि, मुनि इस विद्या के माध्यम से भविष्य के ज्ञान को अर्जित कर लेते थे। इस विद्या की उन्नतशीलता में आर्यभट्ट और वराहमिहिर आदि आचार्यों का अच्छा योगदान रहा। इस ग्रन्थ में चालीस श्लोक है और इसमें सूर्य, चन्द्र, एवं नक्षत्रों का उल्लेख है।

वेद का मुख्य प्रयोजन याज्ञिक कर्मकाण्ड से है, जिसका व्यवस्थित विवेचन कल्पवेदांग में किया गया है। कल्प की परिभाषिक प्रस्तुति निम्नप्रकार से की जा सकती है- यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा संस्कार अर्थात् 'वेद विहित कर्मों का शास्त्र में नियमबद्ध रूप से प्रतिपादन किया जाए, वही 'कल्प' कहलाता है।[२]

कल्प के निम्न तीन प्रकारो को दृष्टिगत किया गया है-

१. श्रौतसूत्र २. गृह्यसूत्र ४. धर्मसूत्र

कुछ विद्वानों के अनुसार कल्प वेदांग के चौथे प्रकार में शुल्ब-सूत्र का नाम आता है, जिसमें वेदी के निर्माण-विधि का विशिष्ट प्रतिपादन है। इसमें आर्यों की ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाओं तथा उसकी गणनाओं का प्रतिपादन होने से इसका वैज्ञानिक महत्व है। अतः इस सूत्र को श्रौतसूत्र के अन्तर्गत मानना चाहिए क्योंकि विभिन्न यज्ञों की विधि-व्यवस्थाओं का नियमन श्रौतसूत्र में किया गया है, दोनों की विषय-वस्तु एक ही है।

सूत्र साहित्य :-

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मणकाल में वैदिक कर्मकाण्डों, यज्ञों, नित्य-नैमित्तिक कर्मों की संख्या में इतनी वृद्धि हो गई कि ब्राह्मण ग्रन्थों के लम्बें छन्दों में उसे स्मरण करना कठिन तथा असम्भव हो गया। अतः वैदिक यज्ञों, कर्मों एवं उनकी विधियों को सूक्ष्म स्पष्ट तथा असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त करना आवश्यक प्रतीत

हुआ, क्योंकि सूत्रयुग के पठन-पाठन के क्रम में एक सही दिशा लाने अर्थात् सूत्रों को कंठस्थ करने का कार्य आवश्यक समझा गया, जिसका उद्देश्य यह था कि कम से कम शब्दों में अधिक विवरण को समाहित किया जाय। यही कारण है कि वेदांग साहित्य का निरूपण सूत्र रूप में किया गया प्रतीत होता है। वैदिक धर्म के आचार्यो ने सम्पूर्ण वैदिक कृत्यों एवं आचारों को सरलता से अवगत करने के लिए उन्हें सूत्रबद्ध करना उपयुक्त समझा। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न वैदिक ज्ञान की शाखाओं, वेदांगो, दर्शनों में सूत्र-प्रथा चल पड़ी। यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि लगभग सम्पूर्ण आर्यज्ञान को सूत्रबद्ध कर दिया, जो जनहित के लिए उपयोगी था।

सूत्र का लक्षण :-

जो अल्प अक्षर वाला हो, सब बात सार रूप में कहता हो और अभिप्राय को असन्दिग्ध रूप से प्रकट करता हो, उसे सूत्र कहते है।[४]

वैदिक धर्म में सूत्रकालीन धार्मिक कृत्यों का स्थान-

वेदों में वैदिक धर्म के जिन महत्वपूर्ण अंगो की स्थापना हुई, उनका पूर्ण विकास ब्राह्मणों में पाया जाता है और वही विस्तृत सामग्री सूत्रसाहित्य में भी पायी जाती है। सूत्रसाहित्य वह कड़ी है, जो वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ती है।

वैदिक धर्म में आचारों एवं संस्कारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिसका विवेचन सूत्र-साहित्य में किया गया है। सूत्र-साहित्य के श्रौत एवं गृह्यसूत्र वैदिक धर्म के दो भाग है। दोनों की विषय-वस्तु संयुक्त रूप से सम्पूर्ण वैदिक धर्म है। श्रौतसूत्रों में यज्ञ विधियों का तो गृह्यसूत्रों में मानव से सम्बन्धित कर्मकाण्डों का विधिवत् विवेचन है।

वैदिक धर्म के अनुसार संस्कार मानव जीवन के परिष्कार के उत्तम उपकरण हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सुविधा पहुचाने, मानव जीवन को पुनीत बनाने तथा महत्व प्रदान करने का सामर्थ्य रखते हैं। मनुष्य की समस्त भौतिक तथा अध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं को अग्रसर करने तथा अन्त में उसे जटिलताओं और गम्भीर समस्याओं के जगत से बाहर निकाल अपेक्षित शान्ति तथा आनन्द देना संस्कारों का ही कार्य है।[४]

अनन्त आनन्द और ज्ञान के सम्पर्क मे रहना ही वैदिक मानव का मुख्य आदर्श था, जो संस्कारों तथा वेद विहित आचारों से प्राप्त हो सकता था। वैदिक जीवन का क्रम में संस्कारों के प्रभाव से उच्च होता रहा, संस्कार हीन मानव वस्तुत: कभी मानवापेक्षित गुणों को प्राप्त नहीं कर सका। वैदिक धर्म संस्कारों एवं आचारों का धर्म है। यज्ञहीन मानवजीवन कोई जीवन नहीं है वह अनार्य है और ऐहिक तथा आभ्युदयिक दोनों रूप से सौख्य तथा शान्त ही बना रहता है। पंच महायज्ञों को वैदिक जीवन में अत्यन्त प्रमुखता दी गई है। मानव का सम्पूर्ण जीवन तथा जीवन से सम्बन्धित कर्म काण्ड एवं पंच महायज्ञों का वर्णन आश्वलायन, पारस्कार आदि गृह्यसूत्रों में किया गया है ये पंच महायज्ञ इस प्रकार है - ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ। इनके लक्षणों को बतलाते हुए आश्वलायन ने नित्प्रतिपादन करने की ओर संकेत दिया है।[४]

वैदिक आर्य देवताओं की सत्ता तथा व्यापकता और प्रभाव में दृढ़ विश्वास रखते थे, उनकी कल्पना में यह जगत पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीन कोटियों में विभक्त है और प्रत्येक कोटि में देवतागण निवास करते है, उन्होने प्रत्येक भाग में भिन्न-भिन्न देवताओं की सत्ता का अनुमोदन किया है, जिनकी पूजा-अर्चना बड़े ही आदर्श भाव से करते आये है जिनका विशद् वर्णन गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है, वहाँ वर्णित प्रत्येक देवता किसी विशिष्ट आदर्श को प्रतीक होता था, जो आदर्श प्रत्येक जन को उन्मुक्त करता था। इसलिए उस विशिष्ट आदर्श और प्रेरणा के लिए उनकी स्तुति और आराधनाएं की जाती थी।

गृह्यसूत्रों में वर्णित धार्मिक कृत्यों के विवेचन से वैदिक जीवन का सांगोपांग अध्ययन किया जा सकता है और साथ-ही-साथ यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म में सूत्रकालीन धार्मिक कृत्यों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र का विधिवत विवेचन-

इन सूत्रों का विधिवत विवेचन निम्नलिखित है।

१. श्रौतसूत्र -इन ग्रन्थों में विवेचित विषय-वस्तु का प्रतिपादन तथा अग्नि द्वारा किये गये यज्ञ की क्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन है। जिनमें यज्ञों के नाम क्रमशः इस प्रकार है :- दर्श-पूर्णमास, पिण्ड पितृयाग, आग्रयेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ़ पशु, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेघ, एकाहयाग, अहीन आदि मुख्य हैं।

यज्ञों से ज्ञात होता है कि श्रौतसूत्रों का विषय बहुत ही जटिल तथा साधारण, के लिए अगम्य है फिर भी सत्य है कि वें वैदिक धर्म में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कुछ आधुनिक श्रौतसूत्र इस प्रकार है- आश्वलायन-श्रौतसूत्र,आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, शांखायन-श्रौतसूत्र, कात्यायन-श्रौतसूत्र, बौधायन-श्रौतसूत्र, वैखानस-श्रौतसूत्र, मानव-श्रौतसूत्र, भारद्वाज-श्रौतसूत्र, वैतान-श्रौतसूत्र, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, जैमिनीय-श्रौतसूत्र, इत्यादि प्रमुख श्रौतसूत्र हैं।

२. **गृह्यसूत्र**-गृहस्थ जीवन के विशद् वर्णन के लिए गृह्यसूत्रों का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। गृह्य शब्द गृह धातु से 'ल्यप्' प्रत्यय लगाने से निर्मित हुआ है। यह शब्द मूलतः गृहस्थवासी है। गृह्यसूत्र, गृहस्थों के उपयुक्त कर्मो का संक्षेप में विधानवाचक है। खादिर-गृह्यसूत्र में उल्लिखित है कि जिस अग्नि में विवाह कार्य सम्पन्न हो, उसी को गृह्य शब्द कहा जाता है, गृह्याग्नि का दूसरा नाम औपासनाग्नि, आवसथ्याग्नि और शालाग्नि है। अग्निहोत्र की आग को स्थापित रखना प्रत्येक गृहस्थ विहित कर्म है। उस कर्म का जिस शास्त्र में विधान हो, विधिवत् उल्लेख हो और गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित सभी कर्मकाण्डों का विवेचन हो, वही गृह्यसूत्र है।

गृह्यसूत्रों में संस्कारों का वर्णन प्रधान होने पर भी अनेक सामाजिक प्रथाओं और रिति-रिवाजों के वर्णन हैं। पंचमहायज्ञ, श्राद्धकर्म, आभिचारिक क्रियाओं के भी वर्णन है। वार्षिक कर्मों का निरूपण भी गृह्यसूत्रों में पाया जाता है यथा-सर्पबलि, पृथ्वी पर शयन का आरम्भ, नये अन्नों के प्रयोग के समय किये जाने वाले कर्म, अष्टका कर्म, पितृकर्म आदि। वार्षिक कर्मों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विधान गृह्यसूत्रों में वर्णित हैं जैसे-घर बनाने के लिए भूमि का चुनाव, घर बनाने की विधि, स्तम्भ रखने की विधि इत्यादि। ये सभी क्रियायें गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित है। अन्त्येष्टि और पितृकर्म की क्रियायें भी गृह्यसूत्रों में वर्णित है। गृह्यसूत्रों की विषय-वस्तु गृहस्थाश्रम को बहुत महत्व दिया है। कहा गया है कि उत्तर वैदिक युग में जब हिन्दू-समाज में चार आश्रमों की व्यवस्था बद्धमूल होने लगी तो शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम को बहुत महत्व दिया है। गौतम[५] तथा बौधायन[६] धर्मसूत्र[७] का यह मानना है कि वास्तव में केवल एक ही गृहस्थाश्रम है, ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ-धर्म के यावज्जीवन पालन का निर्देश करने वाले अनेक वैदिक वचनों के विरोधी होने के कारण अमान्य हैं। बाद के धर्मशास्त्रकारों ने यद्यपि पिछले दो आश्रमों को अस्वीकार नहीं किया किन्तु वे गृहस्थाश्रम की प्रशंसा के गीत गातें नहीं थकते। गौतम ने इसे अन्य आश्रमों का मूल कहा है।[८] महाभारत में गृहस्थाश्रम का गौरव गान अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि - जैसे माता के आधार से प्राणी जीते है, वैसे अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है। गृहस्थ के लिए मोक्ष सम्भव न मानने वालों की निन्दा की गई है[९] अन्यत्र अन्य तीन आश्रमों की तुलना में गृहस्थ का पलड़ा बराबर बताया गया है।[१०]

गृह्यसूत्रों के प्रकार

१. ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

(क) आश्वलायन गृह्यसूत्र :- इसमें प्राचीन आचार्यों के नाम एवं वेदों के पढ़ने का नियम है।

(ख) सांख्यायन गृह्यसूत्र :- इसमें छः अध्याय हैं गृहनिर्माण गृहसंस्कार का वर्णन है। इसकी रचना सुयज्ञ ने की है।

(ग) कौषीतकि गृह्यसूत्र :- इसके पाँच व्याख्याकार हैं।

१. कर्क। २. जयराम।३. हरिहर।४. गदाधर।५. विश्वनाथ।

(ख) वैजवाय गृह्यसूत्र :- यह अनुपलब्ध है। इसके रचियता वैजवाय हैं।

३. कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

(क) बौधायन गृह्यसूत्र :– यह गृह्यसूत्र अपने श्रौत और कल्प के साथ इस तरह सम्बद्ध है कि सम्पूर्ण कल्प एक ग्रन्थ हो जाता है।

(ख) भारद्वाज गृह्यसूत्र :– यह भारद्वाज कल्प सूत्र का अंश है। इसमें विवाह प्रकरण में आधुनिकता का समावेश है।

(ग) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र :– यह गृह्यसूत्र गृह–मन्त्र–पाठ के कृत्यों का वर्णन करता है। इस गृह्यसूत्र का हिन्दी रूपान्तर डा. उमेशचन्द्र पाण्डेय ने किया है।

(घ) हिरण्यकेषी गृह्यसूत्र (सत्याषाढ़ गृह्यसूत्र) :– गृह्य अनुष्ठानों के मन्त्र इसमें विशद् रूप से दिये गये हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डेनवर्ग ने किया है।

(ड.) वैखानस गृह्यसूत्र :– अनुष्ठान में प्रयोजनीय मन्त्रों के केवल प्रतीक मात्र का इसमें उल्लेख हुआ है।

(च) अग्निवेश्य गृह्यसूत्र :– इसके रचियता अग्निवेश्य नामक आचार्य है।

इन्होंने तैतिरयों की बाधूल शाखा के अन्तर्गत अग्निवेष नामक उपशाखा का प्रणयन किया है। इसमें नारायण बलि यति संस्कार सन्यास विधि, वानप्रस्थ है।

(छ) वाराह गृह्यसूत्र :– मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत वाराह है। इसमें मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों का उल्लेख है।

(ज) मानव गृह्यसूत्र :– कृष्ण–यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा का यह गृह्यसूत्र अष्टावक्र–भाष्य में प्रकाशित है।

(झ) काठक गृह्यसूत्र :– यह कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बद्ध है। इसे लवगाक्षि गृह्यसूत्र भी कहते है तथा 'गृह्यपंचिका' के नाम से भी जाना जाता है।

४. सामवेदीय गृह्यसूत्र

(क) गोभिल गृह्यसूत्र:– यह कौथुम शाखा से सम्बद्ध है। इसमें सामवेद के :मन्त्र ब्राह्मण' के मन्त्र है।

(ख) खादिर गृह्यसूत्र :– सामवेद की राणायनीय शाखा का गृह्यसूत्र खादिर–गृह्यसूत्र है। यह गोभिल–गृह्यसूत्र से साम्य रखता है।

(ग) जैमिनीय गृह्यसूत्र :– यह दो खण्डों में है। प्रथम खण्ड में २४ कण्डिका है। द्वितीय में ९ कण्डिका है। श्रीनिवासाध्वरी ने इस पर सुबोधिनी टीका लिखी है।

५. अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

(क) कौशिक गृह्यसूत्र :– अथर्ववेद का यह अकेला गृह्यसूत्र है जिस पर हारिल एवं केशव की व्याख्यायें उपलब्ध हैं। ये जाति की जानकारी देता है। औषधियों के लिए यह अक्षय निधि है। इसका संस्करण ब्लूमफील्ड ने १८९० ई. में अमेरिका से प्रकाशित कराया जिसका हिन्दी संस्करण भारत में १९२४ ई. में प्रकाशित हुआा।

३. धर्मसूत्र–धर्मसूत्र में वर्णाश्रम–धर्म के कर्तव्यों विशेष रूप से राजा के कर्तव्यों का मार्गदर्शन है।

प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुसार मानव का व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित व कल्याण वर्णाश्रम व्यवस्था पर निर्भर होता है। मानव का कल्याण इस तथ्य में होता है कि वह अपने वर्ण, धर्म का पालन करें। धर्मसूत्र के विषय–वस्तु का प्रतिपादन है– राजा और प्रजा के कर्तव्यों, दण्ड, न्याय और कर आदि की विधिवत् व्यवस्था तथा उसके खान–पान, रहन–सहन, विवाह, ऋण और ब्याज आदि की देख–रेख।

वर्तमान समय में जो धर्मसूत्र उपलब्ध हैं, उनकी संख्या इस प्रकार है :–

१. गौतम धर्मसूत्र। २. वशिष्ठ धर्मसूत्र।
३. बौधायन धर्मसूत्र। ४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र।
५. हिरण्यकेशी धर्मसूत्र। ६. वैखानस धर्मसूत्र।
७. विष्णु धर्मसूत्र।

सन्दर्भसूची :–

१. पाणिनीय शिक्षा ४१–४२
२. पा. गृ. पृ. २
३. स.वि. प्राचीनं भारतीय इतिहास का वैदिक युग पृ.–६४
४. आ.गृ.सू.– ४/४
५. ४/१ तथा ४/५।
६. २/६/२९, ४२–४४।
७. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार– मीमांसा, पृ.– ११।
८. १२/२७०/६–७।
९. २७०/१०–११।
१०.महा. (शा.प.) १२/१२।

– शोधच्छात्रा,
संस्कृतसाहित्यविभागः,
उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम

षड्वेदाङ्ग तथा उनमें निरुक्त एवं व्याकरण का स्थान

❑ विकास कुमार, शोधच्छात्र...✍

वेदांग छः माने गए हैं। वेदांगों का प्राचीनतम क्रमबद्ध उल्लेख अथर्ववेदियों के मन्त्रोपनिषद् रूप मुण्डकोपनिषद् में मिलता है। यथा –

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवाऽपरा च। तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।[१]

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में वेदांगों के क्रम में कुछ उलटफेर है। वहां कहा गया है –**षड्गो वेदः छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा च्छन्दोविचिरिति।**

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पुराने माने गए मौर्य काल के ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी मुण्डोपनिषद् के ही क्रम से वेदांगों का उल्लेख है –

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचिर् ज्योतिषमिति चागांानि।[२]

अतः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदांग हैं। इनमें शिक्षा, निरुक्त एवं व्याकरण का सम्बन्ध साक्षात् शब्दों के साथ है। शिक्षा ग्रन्थ शब्दों के सम्यक् उच्चारण उनके स्थान, प्रयत्न इत्यादि का निर्देश करने हैं। निरुक्त शब्दों का निर्वचन दिखाते हुए शब्द में विद्यमान मूल धातु को बताता है। व्याकरण प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश आदि के द्वारा पूर्णतः शब्द की सिद्धि प्रदर्शित करता है। शिक्षा, निरुक्त एवं व्याकरण तीनों का शब्दसाधुत्वप्रक्रिया के साथ सम्बन्ध होने से कुछ आचार्य तीनों को ही व्याकरण के अन्तर्गत रखते हैं। आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण के दो भेद किये हैं – अविभाग व्याकरण और सविभाग व्याकरण।[३] अविभाग व्याकरण वह है जिसमें प्रकृति प्रत्ययादि के विभाग की योजना नहीं दर्शायी जाती, निरुक्त इसके अन्तर्गत हो सकता है। सविभाग व्याकरण वह होता है जो प्रकृति प्रत्ययादि के विवेचन पर आधारित होता है। पाणिनि का व्याकरण सविभाग व्याकरण का सुन्दर उदाहरण है।

तथापि वेदांगों के परिगणन में शिक्षा एवं निरुक्त को व्याकरण से पृथक् ही दर्शाया गया है। पाणिनि शिक्षा में वेदरूप शरीर के अंगों का निम्न प्रकार से कथन किया गया है –

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[४]

शिक्षा को घ्राण कहा गया है अर्थात् शब्द के साधु उच्चारण का ज्ञान होता है। निरुक्त से शब्द को सुना जाता है अर्थात् निर्वचन एवं धातु के परिज्ञान द्वारा उसके अर्थ का सामान्य ज्ञान होता है। व्याकरण मुख स्थानीय है क्योंकि उसके द्वारा प्रकृति, प्रत्यय लोप, आगम, विकार आदि के विशद परिज्ञान द्वारा शब्द एवं उसके अर्थ का पूर्णतः स्वाद पाना सम्भव होता है।

निरुक्त –

निरुक्तों में वर्तमान समय में केवल यास्कीय निरुक्त ही उपलब्ध होता है। किन्तु यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से पूर्ववर्ती चौदह अन्य निरुक्तकारों का विविध प्रसंगों में नामोल्लेख किया है– आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैतीकि, शतवलाक्ष, शाकपूणि, शाकपूणिपुत्र और स्थौलाष्ठीवि। इससे अनुमान होता है कि किसी समय इन आचार्यों के भी निरुक्त विद्यमान रहे होंगे।

निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन शब्दों के निर्वचन द्वारा वेदमन्त्रार्थ–परिज्ञान है।[५] यास्कीय निरुक्त में लिखा है कि निरुक्त के ज्ञान के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता और जब तक अर्थ का ज्ञान न हो तब तक उदात्तादि स्वर एवं शब्द संस्कार अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश, लोप, वर्णविपर्यय, वर्णविकार[६] आदि वैयाकरणी प्रक्रिया को नहीं समझा जा सकता, अतः निरुक्त शास्त्र निर्वचन द्वारा अर्थ बताने के साथ व्याकरण शास्त्र का पूरक भी है।[७] यास्क ने निरुक्ताध्ययन के अन्य प्रयोजन मन्त्र में पदविभाग का ज्ञान तथा संदिग्ध स्थलों में देवता–परिज्ञान भी बतलाये हैं, जो अर्थज्ञान पर ही आश्रित हैं।

प्राचीन निरुक्त को हम आधुनिक भाषाविज्ञान का ही एक अंग कह सकते हैं। निरुक्तशास्त्र का विषय शब्द की सिद्धि करना नहीं है।[८] यह यद्यपि पूर्णरूप से शब्द–निष्पत्ति–प्रक्रिया का बोध नहीं कराता तो भी शब्द में मूल धातु या प्रकृति क्या है इसके अनुसन्धान द्वारा उसके अर्थ के विषय में हमारी ज्ञानवृद्धि करता है। उदाहरणार्थ निरुक्तशास्त्र हमें बतलाता है कि रुद्र शब्द रुद् धातु से, विष्णु शब्द विष्लृ व्याप्तौ अथवा विश प्रवेशने धातु से और जातवेदस् शब्द जात पूर्वक विद ज्ञाने, विद सत्तायाम् या विदलृ लाभे धातु से निष्पन्न हुआ है।

यास्कीय निरुक्त हमें यह भी बतलाता है कि शब्दों का निर्वचन करने में क्या–क्या सावधानियां बरतनी चाहिएं, जो मुख्य रूप से अधोलिखित हैं–[९]

१. जिन शब्दों में उदात्तादि स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय, आगम, लोप, विकारादि संस्कार स्पष्ट हों उनका निर्वचन तदनुसार ही कर लेना चाहिए। इस श्रेणी में देव, होतृ, पितृ, स्वस्ति आदि शब्द आते हैं।

२. जिन शब्दों में धातु कुछ अन्य प्रतीत होती हो और अर्थ कुछ अन्य हो, जो प्रतीत होने वाली धातु के अर्थ के साथ मेल न खाता हो, वहां अर्थ को मुख्य मानकर परीक्षा करें। जैसे वधू शब्द में हननार्थक वध धातु प्रतीत होती है, जो अर्थ के साथ संगत नहीं है। अतः अर्थ को नित्य मानकर यहां वह् धातु कल्पित की जाती है–már bfr og%] lk ,o oèk%A

३. जहां कोई भी समानता प्रतीत न होती हो वहां केवल एक स्वर या व्यंजन के आधार से भी निर्वचन किया जाता है। जैसे प्रत्तम्, अवत्तम् में दा धातु का केवल एक ही अक्षर द शेष है, वह भी त् के रूप में परिवर्तित हो गया है। स्तः, सन्ति शब्दों में अस् धातु का केवल स् शेष है।

४. कहीं–कहीं अन्तलोप (यथा गत्वा, गतम्), उपधालोप (यथा राजा, दण्डी), एकवर्णलोप (यथा तत्त्वा यामि), और द्विवर्णलोप (यथा त्रि ऋच्=तृच्) हो जाते हैं।

५. क्वचित् आदिविपर्यय (यथा द्योति=ज्योति, हनः=घनः, भिन्दुः=बिन्दुः), आद्यन्तविपर्यय (यथा स्कोताः=स्तोताः, सर्जु=रज्जु, कसिता=सिकता, कर्तु=तर्कु), अन्तविपर्यय (यथा ओहः=ओघः, मेहः=मेघः, नाहः=नाधः, मदुः=मधुः) तथा वर्णागम (यथा आसत्=आस्थत्, असु क्षेपणे लुङ्, थुक् का आगम, वारः=द्वारः) हो जाते हैं।

६. किन्हीं शब्दों में संप्रसारण करना आवश्यक होता है, यथा अव धातु से ऊतिः एवं क्वण् धातु से कृणारुः में व् को उ संप्रसारण तथा म्रद् धातु से मृदुः में, प्रथ् से पृथु में एवं प्रुष् धातु से पृषत् में र को ऋ संप्रसारण करना पड़ता है।

७. प्रायिक प्रयोग के आधार पर कुछ धातुएं भाषिक तथा कुछ वैदिक मान ली गयी हैं। परन्तु निर्वचन करने हुए इस विभाजन को पूर्ण नहीं मान लेना चाहिए। कई वैदिक शब्द भाषिक धातुओं से बने हैं, यथा–दम धातु से दमूनस् एवं साध धातु से क्षेत्रसाधस्। इसी प्रकार वैदिक समझी जाने वाली धातुओं से कई भाषिक शब्द निष्पन्न हुए हैं, यथा–उष दाहे धातु से उष्ण शब्द और घृ क्षरणदीप्त्योः धातु से घृत शब्द।

८. निर्वचन करते हुए कभी अन्य देश की भाषाओं से

भी सहायता लेनी पड़ती है। यथा, यास्क के समय गति अर्थ में शव धातु कम्बोज देशों में ही प्रचलित थी, किन्तु उससे निष्पन्न शव (गतास्) शब्द आर्यों में भी प्रचलित था। काटने अर्थ में दा धातु प्राच्य देशों में ही प्रचलित था, परन्तु उससे निष्पन्न दरांती–वाची दात्र शब्द उदीच्य देशों में प्रचलित था। निरुक्त–प्रोक्त इस कसौटी को ध्यान में रखते हुए आज संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

इन तथा इस प्रकार के कतिपय अन्य नियमों का ध्यान रखते हुए निर्वचन किया जायेगा तो वह यथा संभव ठीक होगा। इन बातों की उपेक्षा करके किया गया निर्वचन भ्रान्त हो सकता है। जैसे कभी–कभी ह को घ आदेश हो जाया करता है इस नियम की ओर ध्यान न देकर वधू का निर्वचन हन्यत इति वधूः करना तथा उससे यह परिणाम निकालना कि प्राचीन काल में वधू का वध किया जाना प्रचलित था, घोर अनर्थकारी होगा।

व्याकरण –

व्याकरण पूर्णतया शब्दनिष्पत्ति–प्रक्रिया का बोध कराता है।[१०] वह किसी शब्द में किस प्रकृति से क्या प्रत्यय होता है तथा शब्दसिद्धि में क्या–क्या आगम, लोप, आदेश, व्यत्यय, विकार आदि होते हैं उसका सम्पूर्ण लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा सभी सुबन्त एवं तिङन्त शब्दों की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जाती है। सामान्यतः शब्दों के चार भेद किये जाते हैं–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[११] कुछ आचार्य कर्मप्रवचनीयों को पृथक् मानकर पांच विभाग तथा कुछ अन्य आचार्य गतिसंज्ञकों को भी पृथक् मानकर छह विभाग करते हैं। किन्तु कर्मप्रवचनीय एवं गतिसंज्ञकों का अन्तर्भाव निपातों एवं उपसर्गों में हो जाने से शब्दों के यास्कोक्त चार विभाग मानना ही उचित प्रतीत होता है। व्याकरण में सामान्यतः उपसर्गों एवं निपातों की सिद्धि नहीं की जाती, यद्यपि निरुक्त एवं उणादिकोष में कतिपय निपातों का निष्पत्तिप्रकार दर्शाया गया है।[१२] आधुनिक भाषाविज्ञान भी उपसर्गों एवं निपातों को मूल न मानकर उद्भूत मानता है। इनमें से यौगिक तथा योगरूढ शब्दों की निष्पत्ति व्याकरण करता है, रूढ़ शब्दों का व्याकरणव्युत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। एक अन्य विभाजन के अनुसार कुछ जातिशब्द होते हैं, कुछ गुणशब्द और कुछ क्रिया शब्द होते हैं, जो तीनों ही व्याकरणव्युत्पाद्य हैं।

निरुक्त और व्याकरण का महत्त्व –

निरुक्त एवं व्याकरण दोनों वेदार्थज्ञान एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय के अर्थज्ञान के लिए परामोपयोगी हैं। दोनों में शब्दार्थ–सम्बन्ध की अपेक्षा होती हे। जो किसी पदार्थ के पर्यायवाचक शब्द होते हैं उनमें भी परस्पर कुछ न कुछ अर्थ–भेद अवश्य होता है, जिसे निरुक्त एवं व्याकरण हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। उदाहरणार्थ वृक्ष, महीरुह, शाखी, विटपी, पादप, तरु, अनोकह, कुट, साल, पलाशी, अगम ये सब वृक्ष के पर्याय हैं,[१३] किन्तु उसे काटे जाने से वृक्ष, भूमि पर उगने से महीरुह, शाखाओं एवं विटपों वाला होने से शाखी और विटपी, पैरों (जड़ों) से पानी पीने के कारण पादप आदि कहते हैं। इसी प्रकार वैदिक कोष निघण्टु में विभावरी, सूनरी, भास्वती, ओदती, चित्रामघा, अर्जुनी, वाजिनी, सुम्नावरी, सूनृतावती आदि सोलह उषा के पर्याय वर्णित है।[१४] विभावरी से विभामयी होना, भास्वती से जगमगाना, सूनरी से उत्तम नेत्री होना, सुम्नावरी से सुखमयी या सुखदायिनी होना, सूनृतावती से प्रिय सत्य वाणी को प्रकट करने वाली होना ज्ञात होता है। यही स्थिति अन्य लौकिक तथा वैदिक शब्दों के संबंध में है। यह सूक्ष्म भेद निरुक्त एवं व्याकरण द्वारा ही ज्ञात होता हैं।

कई वैदिक शब्दों में स्वरभेद से भी अर्थभेद हो जाता है। जैसे आद्युदात्त क्षय शब्द निवासगृहार्थक तथा अन्तोदात्त क्षय शब्द विनाशार्थक होता है।[१५]

स्वरज्ञान हमें व्याकरणशास्त्र द्वारा ही होता है।[16] वेद में कोई शब्द सम्बोधनान्त है, सुबन्त है या क्रियापद है इसका निर्णय भी स्वरशास्त्र करा देता है। इस प्रकार निरुक्त एवं व्याकरण दोनों का अपने – अपने स्थान पर महत्त्व स्पष्ट है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक भी हैं और अपना स्वतन्त्र महत्त्व भी रखते हैं। व्याकरण के महत्त्व के विषय में एक उपादेय सूक्ति प्रचलित है –

यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

दोनों में शब्दार्थ-सम्बन्ध की अपेक्षा-

निरुक्त एवं व्याकरण दोनो ही अर्थज्ञान में सहायक भी है तथा अर्थज्ञान पर आश्रित भी। यास्क पहले निघण्टु द्वारा शब्दों के अर्थ परिगणित करके ही निरुक्त के प्रणयन में तत्पर हुए। क्वचित् निरुक्त में वे निर्वचन देने के पश्चात् अर्थविचार भी करते हैं, क्योंकि केवल निर्वचन से अर्थनिर्णय नहीं होता। यथा दैवत काण्ड में अग्नि, वैश्वानर, जातवेदस् एवं द्रविणोदस् के निर्वचन देने के पश्चात् वे किसके वाचक हैं इस पर विचार किया गया है। इसी प्रकर उषस्, अश्विनौ, सविता, भग, सूर्य, पूषन्, विष्णु आदि के वाच्यार्थ पर भी विचार किया गया है। सामान्यतः केवल निर्वचन वाच्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। यथा–**अथ यद् विशितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा**[17] इस निर्वचन से यह तो ज्ञात हो जाता है कि विष्णुपदवाच्य वस्तु अनेकत्र व्यापक या प्रविष्ट है, पर वह वस्तु परमात्मा, सूर्य, राजा आदि क्या है यह ज्ञात नहीं होता। अतएव निरुक्तशास्त्र में केवल निर्वचन नहीं अपितु वाच्यार्थ प्रतिपादन को भी समिलित कर लिया जाता है। इस प्रकार निघण्टु एवं यास्कीय निरुक्त दोनों मिलकर निरुक्त संज्ञा को प्राप्त करते हैं। व्याकरण भी सिद्ध शब्दार्थ–सम्बन्ध को लेकर प्रवृत्त होता है।[18]

अमुक शब्द का अमुक अर्थ कैसे हो गया इसका ज्ञान कराने में निरुक्त का विशेष योगदान है। व्याकरण भी यद्यपि उस कार्य को करता है, तथापि उसका विशेष योगदान शब्दसिद्धिविषयक है।

सन्दर्भ-सूची :-

१. मुण्ड० = १/१/४–५
२. कौ० अर्थशास्त्र = १/३
३. वा० प० = १/१४४–४६
४. पा० शि० = ४१,४२
५. निरुच्यन्ते शब्दा अनेन इति निरुक्तम्।
६. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण–विकार नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।"
७. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं विद्यास्थानं कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। निरु० = १/१३
८. शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं=दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह रा.ला.क. ट्रस्ट भ्रान्तिनिवारण, पृ. २१"
९. निरु० = २.१.२
१०. व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।
११. चत्वारि पदजातानि, नामोख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। निरु० १.१
१२. द्रष्टव्यः स्वाहा का निर्वचन। निरु० ८.२०, पृथक् समया एवं निकषा का सिद्धि प्रकार–उ. १.१३७,४.१७५– प्रथेः कित् संप्रसारणं च। आः समिण्निकषिभ्याम्।
१३. अमरकोषः २.४.५
१४. द्रष्टव्यम्–निघ० १.८
१५. क्षयो निवासे। पा. ६.१.२०। आद्युदात्तः स्यात्, स्वे क्षये शुचिव्रत।
१६. पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रथम अध्याय २.२९ से ४० तक, षष्ठ अध्याय १.१५८ से २.१९९ तक तथा अष्टम अध्याय १.१८ से २.६ तक के सूत्र स्वर सम्बन्धी हैं। वैदिक व्याकरण के प्रातिशाख्यग्रन्थों में भी स्वरसंबन्धी नियमों का वर्णन है।
१७. निरु० १२.१९
१८. कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य शास्त्रं प्रवृत्तम्। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। म. भा. पस्पशाह्निक।

– संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

वेदार्थ में निरुक्त का महत्त्व

❑ गुलशन जहाँ...✍

वेद प्राचीन भारत के पवित्रतम साहित्य हैं जो हिन्दुओं के प्राचीनतम और आधारभूत धर्मग्रन्थ भी हैं। भारतीय संस्कृति में वेद सनातन धर्म के मूल और सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं, जो ईश्वर की वाणी है। ये विश्व के उन प्राचीनतम ग्रन्थों में हैं जिनके मन्त्र आज भी बड़ी आस्था और श्रद्धा से पढ़े और सुने जाते हैं।

'वेद' शब्द संस्कृत भाषा के 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान के ग्रन्थ' हैं। मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का सामूहिक नाम वेद है।[१] वेदों को अपौरुषेय माना जाता है (**अपौरुषेयं वाक्यं वेदः**)। इन्हें श्रुति भी कहते हैं। जिसका अर्थ है 'सुना हुआ ज्ञान'। वेद के समग्र भाग को मन्त्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के रूप में भी जाना जाता है। इनमें प्रयुक्त भाषा वैदिक संस्कृत कहलाती है जो लौकिक संस्कृत से कुछ अलग है। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिन्द की आर्य जाति के बारे में वेदों को एक अच्छा सन्दर्भ स्रोत माना जाता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्त्व बना हुआ है।

वेदों को समझना प्राचीन काल में भारत में और बाद में विश्वभर में एक वार्ता का विषय रहा है। यास्क का यह कहना है कि जब केवल उपदेश या प्रवचन से काम चलना कठिन हो गया तो विद्यार्थियों की विशेष सुविधा की दृष्टि से वेदांगों का समाम्नाय किया गया।[२] यहाँ सायण का कथन भी द्रष्टव्य है। षड् वेदांग ये हैं– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। शिक्षा में वेदवाणी के ध्वनितत्त्व का, व्याकरण में उसके भाषातत्त्व का, निरुक्त में अर्थतत्त्व का, छन्द में गेय तत्व का, कल्प में यज्ञों की विधि का और ज्योतिष में ज्योतिष–शास्त्र का अध्ययन किया जाता है। वेदांग का महत्व उनके नाम से ही स्पष्ट है। इनके अध्ययन के बाद ही प्राचीनकाल में वेदाध्ययन पूर्ण माना जाता था।

निरुक्त वेद का चौथा अंग है जो यास्कमुनि कृत निघण्टु पर ही स्वयं यास्कमुनि का है। सायण ने निघण्टु तथा निरुक्त दोनों निरुक्त मानते हुए 'निरुक्त' शब्द की व्युत्पत्तियाँ दी हैं।[४] निरुक्त शास्त्र की महत्ता बताते हुए स्वयं यास्क ने स्पष्ट किया है कि निरुक्त के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।[५]

निरुक्त शास्त्र की महत्ता बताते हुए स्वयं यास्क ने स्पष्ट किया है कि निरुक्त वेदार्थ के ज्ञान में सहायक है। द्रष्टव्य है–

अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते।
अर्थ् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः।

निरुक्त के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थ न जानने वाला व्यक्ति स्वर एवं संस्कार का अच्छी प्रकार निर्णय नहीं कर सकता। इस रूप में निरुक्त ही ज्ञान का स्रोत है, व्याकरण की पूर्णता है तथा मन्त्रों की व्याख्या का भी साधक है।

यहाँ 'अथापि' शब्द समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिससे पता चलता है कि यहाँ निरुक्त का एक प्रयोजन प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ 'अथापि' का अभिप्राय यह है कि निरुक्त के अध ययन का प्रथम प्रयोजन यह है कि उसके अध्ययन से दुरूह वैदिक शब्दों के निर्वचन में सहयता मिलती है। दूसरा प्रयोजन यह है कि निर्वचन के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान होता है।

'अथापि' के पश्चात् प्रयुक्त 'इदम्' का अर्थ

है यह 'निरुक्त शास्त्र' है। अर्थात् निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के बिना मन्त्रों में निहित विविध अर्थों का अध्ययन नहीं हो सकता। जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक मन्त्रों में प्रयुक्त क्लिष्ट शब्दों के स्वर और संस्कार का (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का निर्धारण करना बहुत कठिन हो जाता है। स्वर एवं संस्कार की ठीक-ठीक कल्पना तभी हो सकती है जब मन्त्र के अर्थ आदि का कुछ ज्ञान हो। क्योंकि एक ही शब्द एक ही प्रसङ्ग में दूसरे प्रकार के स्वर को अपना सकता है तथा उससे भिन्न प्रसङ्ग में दूसरे स्वर तथा संस्कार से युक्त पाया जा सकता है। यहाँ 'अप्रतियत' शब्द 'प्रति' उपसर्गपपूर्वक 'इ' धातु से 'शतृ' प्रत्यय और उसके बाद 'नञ्' समास करके षष्ठी विभक्ति एकवचन में प्रयुक्त हुआ है।

इस रूप में मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को विद्या अर्थात् वेद-विद्या (वैदिकज्ञान) का 'स्थान' कहा गया है। वेद के मन्त्र ज्ञान में निरुक्त सहायक है। इसलिये इसको भी विद्यास्थान माना गया है।

इसके अतिरिक्त व्याकरण की पूरिपूर्णता भी निरुक्त के अध्ययन से ही होती है। क्योंकि व्याकरण तो केवल कुछ यौगिक या योगरूढ़ि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का प्रदर्शन करता है, जबकि निरुक्त सभी शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन तथा उसके निर्वचन की शैली बताता है और अनेक शब्दों के विविध निर्वचन भी प्रस्तुत करता है, वस्तुतः व्याकरण के सीमित नियमों का यहाँ बहुत ही व्यापक क्षेत्र में उपयोग किया जाता है। 'कात्स्न्र्यम्' शब्द 'कृत्स्नस्य भवः' इस अर्थ में 'कृत्स्न' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। अतः इन प्रयोजनों के साथ-साथ निरुक्त स्वार्थ का भी साधक है अर्थात् अपने प्रमुख प्रयोजन वेदार्थ का भी साधक है।

इस प्रकार निरुक्त सभी शब्दों के निर्वचन के उपाय बताकर व्याकरण को पूर्ण बनाता है तथा वेदार्थ में सहायक बनता है। इसीलिए निरुक्त वेदों का अङ्ग अर्थात् वेद के शुद्ध ज्ञान तक पहुँचने का सोपान है।

निघण्टु में वेद के कुछ शब्दों का विषयाकार संग्रह किया गया और निरुक्त में उनका व्याख्यान है। निघण्टु एक प्रकार से वैदिककोष है और निरुक्त में वेदार्थ करने की प्रक्रिया समझायी गयी हैं। निरुक्त में अध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों की प्रणाली खोलकर बताई गयी हैं। वेदाभ्यासी महाशयों को निरुक्त का मनन अत्यावश्यक है। निरुक्त के बिना वेदार्थ में प्रवेश नहीं हो सकता। व्याकरण केवल शब्दसिद्धि बतलाता है परन्तु निरुक्त उसका अर्थ बतलाता है। इसके अतिरिक्त वेदों के 'पदपाठ' और देवता आदि के ज्ञान के विषय में निरुक्त पर्याप्त सहायक ग्रन्थ है। इसलिए वेदाध्ययन की दृष्टि से व्याकरण के समान अथवा उससे कहीं अधिक निरुक्त का महत्त्व माना जाता रहा है।

अतः उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि वेदार्थ में निरुक्त का अत्याधिक महत्त्व है। निरुक्त के बिना वेदार्थ सम्भव नहीं है।

सन्दर्भ-सुची :-

१. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास–कपिलदेव द्विवेदी
२. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मगहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदांगानि च – निरुक्त १/२०
३. अतीगम्भीरस्य वेदस्य अर्थम् अवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि–ऋग्वेदभाष्य, भूमिका, चौखम्बा संस्करण, 1958, पृ0 ४६
४. प्रथम – अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। द्वितीय – एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्–ऋग्वेदभाष्य, भूमिका, पृ0–५५–५६
५. अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते–निरुक्त १/१७

-१०४, द्वितीय तल,
सिलवर स्टोन अपार्टमेन्ट,
जीविका अस्पताल के पास, मार्थाहल्ली,
बैंगलौर